

# समरथ



मार्च-अप्रैल 2014 ♦ नई दिल्ली



6 मार्च 1927—17 अप्रैल 2014

## नाहि तो जनम नसाई

लंबे समय तक हमारे सभी प्रकाशन स्थगित रहे। खुर्शीद की अनुपस्थिति का आघात और उससे उपजी परिस्थितियों से तालमेल बनाने में यह वक़्त तो लगना ही था पर अब एक बार फिर प्रकाशन समेत संस्था की गतिविधियों को पटरी पर लाने की क़वायद हम सबने शुरू कर दी है। प्रकाशन अपने तय समय से काफी पिछड़ गये। इसलिए हम लगातार कई अंक एक साथ प्रकाशित कर रहे हैं।

मार्च-अप्रैल के इस अंक को हमने इन दोनों महीनों में पड़ने वाले दो महत्वपूर्ण अवसरों के इर्द-गिर्द रखा है। 8 मार्च महिला दिवस और 14 अप्रैल बाबा साहब अंबेडकर का जन्मदिन।

अप्रैल में महान लातिन अमेरिकी लेखक ग्रैब्रियाल गार्जिया मार्खेज का निधन हो गया। किस्सागोई की परंपरा की लेखन शैली ने उन्हें दुनिया भर के पाठकों के बीच पहुंचाया। अपने परिवेश, अपने समाज के इस चितेरा लेखक मार्खेज को हमारा नमन।

मार्खेज को समर्पित यह कविता एक साल पहले उन्हें डिमेंशिया (स्मृति-लोप) हो जाने की खबर के बाद लिखी गयी थी।

## मार्खेज को डिमेंशिया हो गया है

मार्खेज को डिमेंशिया हो गया है।  
जीवन की उत्ताल तरंगों के बीच गिर-गिर पड़ते हैं  
स्मृति की नौका से बिछल-बिछलकर;  
फिर भरसक-भर जाँगर  
कोशिश कर बमुश्किल तमाम  
चढ़ पाते हैं नौका पर,  
उखड़ती साँसों की बारीक डोर थाम।  
जिसे इंसानियत का सत्व मानते हैं वह  
वही स्मृति साथ छोड़ रही है उनका  
विस्मृति के महाप्रलय में  
निरुपाय-निहत्था है हमारा स्मृतियोद्धा अब।  
सामूहिक स्मृतिलोप के शिकार  
माकोंडो गाँव के निवासियों की तरह  
चलो हम उनके लिए चीजों पर उनके नाम लिख दें -  
देखो ये बिक चुकी नदी है  
ये नीलाम हो चुके पर्वत  
अपने अस्तित्व ही नहीं  
हमारी यादों के भी कगार पर जी रहे पंछी  
ये हैं अवैध घोषित हो चुकी नस्लें  
ये हैं हमारे गणराज्य  
बनाना रिपब्लिक के संवैधानिक संस्करण  
ये है तुम्हारा वाइन का गिलास

ये कलम, ये कागज और ये तुम हो  
 हमारे खिलंदड़े लेखक गेब्रिएल गार्सिया मार्खेज!  
 ये यादें ही तो हैं  
 जिन्होंने नाचना और गाना सिखाया  
 सिखाया बोलना और चलना  
 सिखाया जीना और बदला लेना,  
 लामकाँ में घर बनाना सिखाया  
 हमारे विस्थापित मनो को  
 हमें और किसी का भरोसा नहीं स्मृति यात्री!  
 धर्म ने हमारा सत्वहरण कर लिया  
 विज्ञान ने तानाशाहियों की दलाली की  
 विचारधाराओं ने राष्ट्रों के लिए मुखबिरी की  
 इतिहास ने हमारी परछाइयाँ बुहार दीं  
 हमें यादों का ही भरोसा है,  
 अब वह भी छिनी जाती है  
 बगैर किसी मुआवजे के हमारी जमीनों जैसी।  
 यादें जमीन हैं  
 आसमान के बंजरपन को  
 अनंतकाल से कोसती हुई।  
 हमारी नाल कहाँ गड़ी है?  
 माँ जैसे लोरी सुनाने वाले सनकी बूढ़े!  
 कब से यूँ ही विचर रहे हो धरती पर  
 हमारे प्रसव के लिए पानी गुनगुना करते,

थरथराते हाथों से दिए की लौ पकड़े हुए स्मृति धाय!  
 हमारी नाल कहाँ गड़ी है?  
 कैसी हैं हमारी विच्छिन्न वल्दीयतें!  
 कैसे हैं इनसानियत के नक़्श!  
 हमारे गर्भस्वप्न कैसे हैं?  
 किन तितलियों के पंखों म. छुपे हैं  
 हमारे दोस्त फूलों के पुष्प पराग...!  
 किससे पूछें  
 तुमसे तो खुद जुदा हो चली हैं स्मृतियाँ  
 स्मृति नागरिक!  
 मछलियों की रुपहली पीठों पर ध्यान लगाए  
 पानी के ऊपर ठहरे जलपाखियों की एकाग्र साधना से पूछें,  
 पूछें पानी से सट कर उड़ते बगुलों की पंख समीरन से,  
 जमुना के गंदले पानी में टूटकर बिखरे  
 सूरज की किरचों से पूछें,  
 पूछें मरीचिका के संधान में मिथक बनते मृगों से,  
 डेल्टावनों की सांघातिक मक्खियों से पूछें  
 या पूछें अभयारण्यों में खाल के व्यापारियों से  
 अभय की भीख माँगते बाघों से,

अपने खेत म. अपने पोसे हुए पेड़ की डाल से खुदकुशी करते  
 किसान के अँगोठे की गाँठ से पूछें,  
 या बंद कारखाने के अकल्पनीय अकेले चौकीदार से पूछें,  
 फ्लाई ओवर के नीचे गड़गड़ाहट से उचटी नींदों से पूछें  
 या पूछें सीवर से निकलती कार्बन मोनो ऑक्साइड से  
 किस उपनिषद - किस दर्शन के पास जवाब है इन सवालों का  
 सिवाय यायावर यादों की एक तवील यात्रा के  
 हमें हमारी गड़ी हुई नालों के स्वप्न क्यूँ आते हैं?  
 हमारे ज्ञानी ओझा!  
 हम सब डिमेन्शिया में जा रहे हैं मार्खेज!  
 अपने उचटे हुए हाल और बेदखल माजी के बीच झूलते  
 किसी और का मुस्तकबिल जीने को अभिशप्त;  
 ये किन अनुष्ठानों का अभिशाप है?  
 कि शब्द अपने अर्थ भूलते जा रहे हैं  
 भूलती जा रही हैं साँस. अपनी लय  
 खिलौने सियासत करने लगे हैं  
 साज लड़ने लगे हैं जंग  
 जिस्मफरोशी कर रही हैं रोटियाँ  
 और हम हथियारों का तकिया लगाने को मजबूर हैं!  
 हम सब डिमेन्शिया में जा रहे हैं मार्खेज  
 और हम इसे अलग-अलग नामों से पुकार रहे हैं  
 विकास, तरक्की, साझा भविष्य... या  
 या इतिहास गति की वैज्ञानिक नियति?  
 विज्ञान और नियति  
 माई गुडनेस!  
 मार्खेज तुम्हें डिमेन्शिया हो गया है और  
 इससे पहले कि यादों से पूरी तरह वतन बदर हो जाओ  
 एक बार जरूर हमारे लिए चीजों पर नाम की चिप्पियाँ लगाना  
 मसलन -  
 ये हैं याद.  
 ये है आजादी और  
 ये है लड़ना  
 यादों के छोर तक लड़ना!

● अंशु मालवीय

# स्त्री अधिकार और आंबेडकर

■ सुजाता पारमिता

आंबेडकर ने कहा था, 'मैं नहीं जानता कि इस दुनिया का क्या होगा, जब बेटियों का जन्म ही नहीं होगा।

'स्त्री सरोकारों के प्रति डॉ भीमराव आंबेडकर का समर्पण किसी जुनून से कम नहीं था। छियासी साल पहले, 28 जुलाई, 1928 के दिन, उन्होंने बंबई विधान परिषद में स्त्रियों के लिए प्रसूति से जुड़े पहलुओं से संबंधित एक महत्वपूर्ण विधेयक पेश किया गया था। उसका जोरदार समर्थन करते हुए उन्होंने कहा था कि यह देश के हित में है कि मां को बच्चे के जन्म के दौरान आराम मिले। सरकारी और निजी, दोनों क्षेत्रों के अंतर्गत आने वाले तमाम कारखाने, खदान या ऐसे सभी उपक्रम जहां भारी संख्या में स्त्रियां मजदूरी करती हैं और जो खतरनाक हैं और जिनमें काम करना उनके लिए जानलेवा भी सिद्ध हो सकता है, यह उनकी जिम्मेदारी है कि वे इस खर्च का वहन करें, क्योंकि वे स्त्री श्रमिकों को तभी काम पर रखते हैं, जब उन्हें इससे ज्यादा फायदा होता है। इस विधेयक का मुख्य आधार अन्य सुविधाओं के साथ ही महिला श्रमिकों के लिए वेतन समेत छुट्टियों का प्रावधान था। आंबेडकर ने ब्रिटेन सरकार से इस विधेयक को केवल बंबई विधान परिषद क्षेत्र तक सीमित न रख कर देशभर में लागू किए जाने की अपील की। जबकि भारतीय सामाजिक परंपरा में दलितों और स्त्रियों के लिए अपने श्रम के एवज में किसी सहूलियत की उम्मीद करना लगभग अपराध माना जाता था।

इसके बाद आंबेडकर ने बंबई विधान परिषद में पी.जे.रोहम द्वारा नवंबर, 1938 में जनसंख्या नियंत्रण विधेयक के रूप में एक ऐतिहासिक विधेयक पारित करवाया। उस विधेयक ने मनु के सदियों से चले आ रहे उस दर्शन को ध्वस्त कर दिया, जिसमें स्त्री को एक ऐसे गुलाम के रूप में जीने को कहा गया था जिसका अपनी ही देह और कोख पर अधिकार न हो। उस दर्शन के मुताबिक उसका जन्म स्त्री के रूप में इसीलिए हुआ है कि वह पुरुष की सेवा करे, उसे तृप्त करे और बच्चे पैदा करने का साधन बनी रहे। यह सिद्धांत सदियों से भारतीय स्त्रियों की भयानक स्थिति के लिए जिम्मेदार रहा और आज भी उसके खिलाफ कई रूपों में संघर्ष जारी है। भारत के इतिहास में पहली बार इस विधेयक ने स्त्रियों को यह अधिकार दिया कि अनचाहे गर्भ से मुक्ति उनका अपना निर्णय होगा और अपनी देह और कोख पर उनका अधिकार। साथ ही आंबेडकर ने तत्कालीन सरकार से ऐसी व्यवस्था करने की अपील की कि हर भारतीय स्त्री को अनचाहे गर्भ से मुक्ति उसकी मर्जी से और आसानी से मिले।

आंबेडकर को वायसराय की काउंसिल में 20 जुलाई, 1942

को बतौर श्रम-सदस्य शामिल किया गया। वहां अपने चार साल (1942-46) के कार्यकाल में उन्होंने कई महत्वपूर्ण कानून बनाए और कई पुराने कानूनों में बदलाव किए। यह उन्हीं की देन है कि भारतीय श्रम कानून का स्वरूप न केवल बदला, बल्कि कहीं ज्यादा मानवीय हुआ और महिला श्रमिकों के लिए विशेष सुविधाएं लागू की गईं। कारखानों और खदानों में काम के घंटे घटा कर फिर से निर्धारित किए गए। स्त्री और पुरुष श्रमिकों के लिए समान वेतन के अधिकार का भी प्रावधान किया गया। छोटे बच्चों के लिए काम की जगह के आसपास ही पालनाघर बनाए गए। स्वास्थ्य और जीवन बीमा की शुरुआत की गई, सामाजिक सुरक्षा अधिनियम बनाया गया।

आज देशभर में जो कर्मचारी राज्य बीमा निगम के अस्पताल चलाए जा रहे हैं, इस नीति को भी आंबेडकर ने ही मूर्त रूप दिया था। निश्चित तौर पर उनका योगदान श्रम कानून के क्षेत्र में बहुत व्यापक और सराहनीय था। अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि उस समय पूंजीपति वर्ग द्वारा चलाए जा रहे कारखानों में पीने के पानी तक की व्यवस्था नहीं थी और वह आंबेडकर के प्रयासों से ही संभव हो सकी। यों भी, पानी का अधिकार दलितों के लिए हमेशा ही संघर्ष का कारण रहा। खुद आंबेडकर इस दर्द के साथ ही जन्मे और इस समस्या का सामना किया।

अप्रैल 1947 में डॉ आंबेडकर ने हिंदू कोड बिल का मसविदा तैयार कर संविधान सभा में रखा, जिस पर बहस होनी थी। यह बिल मुख्य रूप से संयुक्त या अविभाजित हिंदू परिवार में संपत्ति के अधिकार से संबंधित था। यह अगर उस वक्त पारित हो गया होता तो स्त्रियों को स्वतंत्र और आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में मील का पत्थर साबित हो सकता था। यह सिर्फ स्त्री अधिकारों पर आधारित था और यही इस बिल की खासियत थी। इसमें स्त्रियों को अपनी मर्जी से विवाह और तलाक, पति से अलग रहने पर गुजारा भत्ता, गोद लेने (बच्ची को भी गोद लिए जाने) और बच्चों के संरक्षण का भी अधिकार दिया गया था। संपत्ति का विभाजन होने पर उसमें घर की स्त्रियों के रूप में मां, पत्नी और बेटा, सभी का हिस्सा निर्धारित किया गया। इस क्रांतिकारी बिल से उस वक्त तूफान आ गया था। जिस देश में स्त्री को इंसान होने के बुनियादी अधिकारों से भी वंचित किया गया था, उसे एक साथ इतने सारे हक दिए जाने वाले थे। लेकिन आखिरकार फिजूल की प्रक्रिया से जूझते रहने के बाद इस बिल को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। हालांकि इसमें सुझाए गए चार प्रावधानों को तब किसी तरह पारित किया गया।

स्वतंत्र भारत में जब आंबेडकर को संविधान निर्माण का जिम्मा

दिया गया तो जैसी उनसे उम्मीद थी, उन्होंने जाति, धर्म और गोत्र के सारे बंधन तोड़ कर सभी भारतीयों के लिए समता के अधिकार को प्राथमिकता दी। आज भारतीय संविधान अपने सभी नागरिकों को समान अधिकार की गारंटी देता है, चाहे वह अंबानी हों या घरों में बर्तन मांज कर परिवार का पेट भरती स्त्रियां या फिर भीख मांग कर गुजारा करते लोग। खासतौर पर स्त्रियों के साथ किसी भी आधार पर भेदभाव को कानूनी तौर पर जुर्म माना गया।

चार साल बाद कानूनमंत्री के रूप में आंबेडकर ने एक बार फिर हिंदू कोड बिल को संसद में रखा, लेकिन उनकी तमाम कोशिशें बेकार हो गईं जब यह बिल भारी मतों से पराजित हो गया। हिंदू कोड बिल का पराजित होना आंबेडकर की निगाह में उनकी निजी हार थी। स्त्री अधिकारों के प्रति वे कितने संवेदनशील थे, इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि इस हार के बाद उन्होंने 27 नवंबर 1951 को कानूनमंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया। तब से आज तक इस बिल को कई टुकड़ों में पारित किया गया, लेकिन एक तरह से देखें तो 2006 में बने घरेलू हिंसा कानून ने उनके सपने को पूरा किया।

आंबेडकर महिलाओं और दलितों की शिक्षा, प्रगति और जागरूकता के लिए जिंदगी भर संघर्ष करते रहे। उनके सभी सामाजिक आंदोलनों में दलित स्त्रियां भारी संख्या में शामिल रहीं, चाहे वह पानी के सवाल पर हुआ 'महाड सत्याग्रह' हो या मंदिर प्रवेश के लिए 'काला राम सत्याग्रह' या फिर 1942 में नागपुर में आयोजित दलित महिला अधिवेशन, जिसमें पच्चीस हजार दलित महिलाओं ने शिरकत की थी। उस अधिवेशन में आठ महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किए गए, जिनमें से एक, भारतीय स्त्रियों के लिए तलाक के अधिकार से संबंधित था।

कमजोर सामाजिक तबकों की स्त्रियों की स्थिति बदलने का संघर्ष आंबेडकर के लिए एक 'महायुद्ध' था, जिससे वे एक योद्धा की तरह लड़े। उनका संघर्ष देश के उस तबके के लिए था जो सम्मान और न्याय के लिए सदियों से संघर्ष कर रहा था। आंबेडकर को दलितों और स्त्रियों के लिए हर उस स्थिति से लड़ना था जो उनके हालात के लिए जिम्मेदार थी। उन्होंने समय-समय पर ऐसे कई आंदोलन किए, जिन्होंने हिंदू धर्म की जड़ों पर चोट की। पच्चीस दिसंबर 1927 को उन्होंने महाड (महाराष्ट्र) में मनु-स्मृति को जलाया था, जिसे 'हिंदू धार्मिक संविधान' माना जाता रहा और जो दलितों और स्त्रियों की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार था। उस वक्त यह ऐसा 'शॉक-ट्रीटमेंट' साबित हुआ जिससे हिंदुत्व की जड़ें हिल गईं और जिसने भारतीय समाज को यह सोचने पर बाध्य कर दिया कि धर्म से भी विद्रोह किया जा सकता है; धर्म पत्थर पर लिखा फरमान नहीं है, जिसे बदला नहीं जा सकता। इन्हीं हालात में दलितों और स्त्रियों के बीच धार्मिक बेड़ियां टूटीं, अंधविश्वास के 'उद्योग'

को भारी धक्का पहुंचा, शिक्षा और जागरूकता की शुरुआत हुई।

आंबेडकर जानते थे कि वे जिस वर्ग के लिए संघर्ष कर रहे हैं वह सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और राजनीतिक, सब तरह से कमजोर है। उस स्थिति से लड़ना और जीतना कोई आसान काम नहीं। यह चौतरफा लड़ाई थी, जिसमें एक ओर ताकतवर हिंदू धर्म-रक्षक भी थे। लंबी चली लड़ाई में आंबेडकर ने कई आंदोलन किए। मंदिर प्रवेश के मुद्दे पर उन्होंने 1927-30 के बीच दलितों के साथ नासिक के काला राम मंदिर, पूना के पार्वती और अमरावती के अंबादेवी मंदिर में प्रवेश किया, जहां उन्हें हिंसा का भी सामना करना पड़ा।

हिंदू धर्म से टकरा आंबेडकर के लिए बेमानी था, लेकिन दलितों के बीच स्वाभिमान जगाने के लिए यह जरूरी था। 1929 में येरूला के अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि दलितों को हिंदू धर्म में अत्याचार सहते रहने की कोई आवश्यकता नहीं, वे चाहें तो किसी भी धर्म में प्रवेश कर सकते हैं।

इसी के बाद बारह महारों (दलित) ने हिंदू धर्म त्याग कर इस्लाम को अपना लिया। इस घटना से हिंदू धर्माधीशों के होश उड़ गए। आंबेडकर ने अपने अंतिम दिनों तक आंदोलन को जिंदा रखा। अपनी मृत्यु से महज दो महीने पहले उन्होंने हिंदू धर्म त्याग कर चौदह अक्तूबर 1956 को नागपुर की दीक्षा भूमि में लगभग चार लाख दलितों के साथ बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। उसे आज तक दुनिया का सबसे बड़ा धर्म परिवर्तन माना जाता है। बौद्ध धर्म में प्रवेश की प्रक्रिया भारत में आज भी जारी है।

आजादी के अड़सठ सालों बाद भारत में सवर्ण स्त्रियों की दशा में काफी बदलाव आया है। लेकिन दलित स्त्रियां आमतौर पर आज भी लगभग उसी स्थिति में हैं। आधुनिक स्त्रीवादी आंदोलन भारत में सत्तर के दशक में शुरू हुआ, लेकिन उसका नेतृत्व अब तक सवर्ण महिलाओं के ही पास है और उनके इर्दगिर्द घूमता है। कुछ दलित स्त्रियों ने इस मुद्दे पर जरूर आंदोलन किया, लेकिन उसका फायदा इस समूचे आंदोलन के नेतृत्व-वर्गों को ही मिला, उन्हें नहीं, जो वास्तव में ज्यादा शोषण का शिकार थीं।

भारत में स्त्रियों के अधिकार और सम्मान के लिए सबसे ज्यादा ज्योतिबा फुले, उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले और डॉ. आंबेडकर ने संघर्ष किया, लेकिन महाराष्ट्र के स्त्रीवादी आंदोलन को छोड़ शेष भारत में तो उनका नाम भी किसी स्त्रीवादी आंदोलन में नहीं लिया जाता। यह ब्राह्मणवादी मानसिकता जहां स्त्रीवादी आंदोलन को सीमित कर रही है, वहीं इससे दलित स्त्रीवादी आंदोलन को अलग विस्तार मिल रहा है। दलित स्त्रीवादी आंदोलन का इतिहास काफी पुराना है और उन्हें लड़ना आता है। लेकिन इस अलगाववादी सोच से आखिरकार किसका नुकसान होगा, यह जाहिर-सी बात है।

साभार जनसत्ता

# हिंदी सिनेमा में दलित बिम्ब : नए सरोकारों की ज़रूरत

■ ललित जोशी

संस्कृति की राजनीति वास्तव में आधिपत्य की राजनीति है। उस विराट क्षेत्र पर कब्ज़ा करने की जिसे हम 'सांस्कृतिक स्पेस' कहते हैं। यह वो स्थली है जहां नाना प्रकार के बिंब आपस में टकराते हैं। सारा संघर्ष इन बिम्बों को लेकर है। किसे प्रधानता मिले तो किसे उपेक्षित रखा जाए। सांस्कृतिक कर्म चाहे लेखन हो या चित्रकला अथवा सिनेमा का निर्माण-बिंबों के द्वंद्व से पूरी तरह ग्रसित है। सिनेमा के बिम्बों का निर्माण छवियों, ध्वनि और संवाद की मदद से किया जाता है। यह फिल्मकार के अख्तियार में है कि वह जिस तरह चाहे बिम्बों को संवारे। इस चयन में उसकी वैयक्तिक विचारधारा और सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि निर्णायक होती है। फिल्म बन जाने पर वह दर्शक की संपत्ति हो जाती है। दर्शक उसकी अर्थपूर्ण व्याख्या करता है। यदि वह विवेकशील है तो यह जानने की कोशिश करेगा कि कुछ बिम्बों को ही प्रतिनिधित्व का मौका क्यों दिया जा रहा है या अन्य की उपेक्षा क्यों की जा रही है। वह यह भी जानने की कोशिश कर सकता है कि फिल्म आख्यान एकसुरा क्यों सुनाई पड़ रहा है। क्या अन्य लोग गूंगे हैं या उन्हें बोलने का अवसर नहीं दिया गया। दरअसल ज़्यादातर दर्शक फिल्म का अर्थपूर्ण विश्लेषण करने में सक्षम नहीं होते हैं। वह सिनेमाई स्पेस के भीतर चल रही राजनैतिक कशमकश को समझ नहीं पाते। इसके कई कारण हो सकते हैं। दर्शक सिनेमा को महज आमोद-प्रमोद का साधन मानता हो इसलिए वह उसे समझना नहीं चाहता। यह भी मुमकिन है कि उसके पास सिनेमा की राजनीति या सौंदर्यशास्त्र को समझने का कोई वैचारिक उपकरण न हो। और यदि हो भी तो अपरिपक्व रूप में। बहरहाल इस कमजोरी का लाभ उठा कर कई फिल्मकार सांस्कृतिक बिम्बों का मनमाना उपयोग करते हैं। इससे समाज के प्रभावी समुदायों (वर्ग/जाति) के हित सुरक्षित रहते हैं तथा राजनीति में यथास्थिति बनी रहती है।

सिनेमा सांस्कृतिक माध्यम है लेकिन प्रारंभ से ही उसके सरोकार राजनैतिक रहे हैं। जैसे सामंती मूल्यों का प्रतिकार, पाश्चात्य संस्कृति की आलोचना, नारी-पुरुष संबंधों की पुनर्व्याख्या, दलितोद्धार वगैरह। सिनेमा आधुनिकता के 'अनुभव क्षेत्र' में प्रवेश का बिंदु भी है। इसलिए किसी फिल्मी-पाठ का अध्ययन आधुनिकता से पूछताछ करने के समान है। इस लेख का उद्देश्य दलित बिम्बों से संबंधित सिनेमा की पड़ताल करना और यह जानने की कोशिश कि वह दलित विमर्श की कसौटी पर खरा है या नहीं।

हिन्दी सिनेमा ने शैशवकाल से ही दलित बिम्ब को जागृत किया किंतु पात्र-निरूपण तथा आख्यानात्मक निबंधन के स्तरों पर सावधानी और चालाकी बरतता रहा। ऐसा क्यों हुआ इसके लिए हमें उस दौर से अपनी बात शुरू करनी होगी जब पौराणिक कहानियों पर आधारित मिथक फिल्मों का चलन घटने लगा था और जब सामाजिक विषयों को केंद्रित करने वाली 'टॉपिकल्स' अस्तित्व में आईं। टॉपिकल्स के विभिन्न सरोकारों में दलित सरोकार भी एक था। लेकिन दलित-विषयक 'टॉपिकल्स' पर नज़र डालने से पहले उनके राजनैतिक संदर्भ को अंकित किया जाना ज़रूरी है।

जब दलित-विषयक 'टॉपिकल्स' का प्रदर्शन आरंभ हुआ तो गांधी राष्ट्रीय आंदोलन का चरित्र काफी हद तक बदल चुके थे। वस्तुतः यह सिलसिला असहयोग आंदोलन (1920-22) से आरंभ हुआ था। पंजाब और खिलाफत के मुद्दों पर भारतवासियों को एकजुट करने में गांधी को उत्साहवर्द्धक सफलता मिली थी। लेकिन चौरी-चौरा (5 फरवरी, 1922) ने उन्हें जन राष्ट्रवाद के विस्फोटक चरित्र के प्रति सचेत किया और सक्रिय राजनीति से अलग-थलग रह कर अधिक समय ग्राम-सुधार तथा अछूतोद्धार जैसे कार्यक्रमों (1922-1928) में बिताने लगे। इसी समय अछूतोद्धार के प्रश्न पर उनके अंबेडकर के साथ गहरे मतभेद उत्पन्न हुए। यह दिलचस्प संयोग है कि जिस समय गांधी का राष्ट्रीय रंगमंच पर पदार्पण हुआ लगभग उसी समय अंबेडकर ने महाराष्ट्र के दलित आंदोलन की कमान संभाली। अंबेडकर ने न केवल जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का विस्तृत इतिहास (Caste in India : Their Mechanism, Genesis and Development, 1916) लिखा, बल्कि उसके शोषणकारी और अमानवीय स्वरूप को अनुरेखित करते हुए उसके उन्मूलन की पुरजोर वकालत की (Annihilation of Caste, 1936)। अंबेडकर के हस्तक्षेप के कारण (मनगांव सम्मेलन, 20 मार्च, 1920; अखिल भारतीय बहिष्कृत परिषद, नागपुर सम्मेलन, 30-31 मई 1920; महाइ सत्याग्रह, महाइ, 20 मार्च, 1927) दलित आंदोलन को कांग्रेस से छुटकारा मिला और स्वतंत्र पहचान बना सका। 1927 में गांधी ने मद्रास यात्रा की। किंतु वहां जाति की संकीर्ण व्याख्या और वर्णाश्रम व्यवस्था की वकालत किये जाने पर उन्हें ई.वी. रामास्वामी नायकर के प्रतिरोध को झेलना पड़ा। स्वयं नायकर, गांधी से मिलने के बाद काफी निराश दिखायी पड़े। प्रेस के साथ एक साक्षात्कार में

उन्होंने कहा : “यू तो लोग समझते हैं कि महात्मा गांधी अस्पृश्यता को समाप्त कर धर्म में सुधार लाना चाहते हैं, लेकिन उनके सार्वजनिक बयान और विचार एक-दूसरे से विपरीत हैं... हमने धीरज रखा है...लेकिन हमें महात्मा का विरोध करना पड़ेगा।”

स्पष्ट है कि अंबेडकर और नायकर दोनों ही गांधी की ‘जाति’, ‘वर्ण’ और अस्पृश्यता उन्मूलन की व्याख्याओं से संतुष्ट नहीं थे तथा नवजात अवस्था में ही दलित विमर्श प्रतिस्पर्धा की स्थली बन चुका था।

असहयोग आंदोलन तथा सविनय अवज्ञा के बीच (1920-1932) के काल को राष्ट्रवादी साहित्य हमेशा ‘गांधी के युग’ के नाम से प्रचारित करता रहा है। ‘गांधी के युग’ में फुले, अंबेडकर तथा नायकर की चर्चा या तो बिल्कुल ही नहीं की जाती है या फिर दबे स्वरों में। यह वो दौर था जब सारा राष्ट्रीय विमर्श गांधीमय हो चला था। राष्ट्रवादी कहते थे कि राष्ट्र जाति में सुधार चाहता है, जाति का अंत नहीं। यद्यपि दलित नायक इस तर्क को प्रारंभ से ही नकारते रहे फिर भी स्वतंत्रता आंदोलन के परवर्ती चरणों में विशेषकर शक्ति हस्तांतरण और बंटवारे की गहमागहमी में उनके स्तर मद्धिम होते चले गए। 1920 तथा 30 के दशकों की एकपक्षीय व्याख्या की तरह राष्ट्रवादी इतिहास हमें यह जानने का मौका नहीं देता कि चालीस के दशक में दलितों की मनः स्थिति कैसी थी? या फिर मुस्लिम लीग अथवा बंटवारे की योजना के प्रति उनका क्या रवैया था। इस संदर्भ में दो उदाहरण देना चाहूंगा। बंटवारे की पूर्व संध्या पर दलित-मुस्लिम संबंधों की ओर इशारा करते हुए उर्वशी बुटालिया एक दिलचस्प वाक्य का उल्लेख करती हैं। हुआ यूं कि दंगे भड़क उठने पर एक औरत पंजाब के एक जिले में मुस्लिम दंगाइयों की गिरफ्त में आ गयी। लेकिन दंगाइयों ने उसके साथ बलात्कार नहीं किया क्योंकि वह निम्न जाति की थी। बुटालिया के अनुसार पंजाब, बंगाल तथा संयुक्त प्रांत में मुस्लिम लीग अनुसूचित जाति संघ के साथ चुनावी गठबंधन कर चुकी थी। अतः राजनैतिक स्तर पर दलित जातियां भी पाकिस्तान की मांग का समर्थन कर रही थीं। यही कारण था कि लीग ने दंगों के समय दलितों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने का वायदा किया था। दूसरा उदाहरण संयुक्त प्रांत से है। बंटवारे से ठीक पहले अनुसूचित जाति संघ को पूरा विश्वास हो चला था कि अंतिम बातचीत में उसे भी न्यौता दिया जाएगा। लेकिन कांग्रेस के दबाव के कारण कैबिनेट मंडल ने अनुसूचित जातियों को हिंदू संप्रदाय का अंग मान लिया। 1946 में सहारनपुर, कानपुर, ऐटा तथा इटावा में कांग्रेस के छलावे का पर्दाफाश करते हुए स्थानीय दलित नेताओं ने गिरफ्तारियां दी। कतिपय रूप से राष्ट्रवादी कहा जाने वाला साहित्य हमें इन घटनाओं की जानकारी नहीं देता क्योंकि उसका उद्देश्य दलित स्वरों को मुखरित करना नहीं था।

सवाक फिल्मों के निर्माण होने तक (1931) राष्ट्रवादी और दलित विमर्श एक दूसरे से विपरीत दिशाओं में बहने लगे थे। तत्कालीन संस्कृति कर्म राष्ट्रवादी सोच से गहराई से प्रभावित हुआ। अधिकांश साहित्यकार चित्रकार और रंगकर्मी शहरी उच्च जातीय परिवारों से ताल्लुक रखते थे। उनके राजनैतिक सरोकार दलित पीड़ा से पूर्णतया अछूते थे। हिन्दी सिनेमा भी इस आग्रह से बच न सका। उस समय ज़्यादातर हिंदी फिल्मों का निर्माण बम्बई या कलकत्ता में किया जा रहा था। तीस के दशक में दोनों महानगरों पर कांग्रेस पार्टी का निर्विवाद वर्चस्व स्थापित हो चुका था। सारा राजनैतिक वातावरण गांधीमय हो चुका था। इसलिए दलित-विषयक ‘टॉपिकल्स’ को भी गांधीवाद के रास्ते ही फिल्म जगत में प्रवेश मिला। इस विषय को और गहराई से समझने के लिए मैं पांच फिल्मों का विश्लेषण करूंगा जो औपनिवेशिक काल में बनी थीं। यह थी खुदा की बात (1930, आर.एस.चौधरी), चंडीदास (1934, नितिन बोस), धर्मात्मा (1935, वी.शांताराम), अछूत कन्या (1936, फ्रेट्ज़ आस्टन) तथा अछूत (1940, चंदूलाल शाह)।

पहली फिल्म खुदा की बात की नायिका रामकी है जो हरिजन है। रामकी को सेठ कृष्णदास के पुत्र माणिकचंद से एक नाजायज़ औलाद है। कृष्णदास भी रामकी के प्रति आसक्ति रखता है। एक दिन मौका पाकर वह उसके साथ बलात्कार की कोशिश करता है। बीच-बचाव में कृष्णदास की मृत्यु हो जाती है। कानून से बचने के लिए रामकी एक नर्तकी के यहां शरण लेती है। इस बात का माणिकचंद को पता चल गया और रामकी फिर भागने के लिए मजबूर हो गयी। इस बार रामकी की मुलाकात गरीब दास नामक साधु से होती है जो उसे अपने आश्रम में जगह देता है। गरीब दास की सूरत तथा शक्ल-सूरत तथा हाव-भाव गांधी से मिलते हैं। उसका आश्रम भी मानो साबरमती का प्रतिरूप हो। रामकी इस आश्रम की सदस्य बन जाती है। जब माणिकचंद को दोबारा रामकी की जानकारी मिलती है तो उसे सबक सिखाने की ठान लेता है। वह अपने बल-प्रदर्शन द्वारा आश्रम को हस्तगत कर लेता है। अब रामकी कहाँ जाए? कहानी का अंत आश्रम के निकट बहने वाली नदी पर बने बांध के टूटने से होता है और अत्याचारी डूब जाता है।

बेशक खुदा की बात दलित बिम्ब को उजागर करती है। आखिर रामकी ‘दलित’ है, स्त्री है तथा बलात्कार की शिकार भी! लेकिन उसे शरण मिलती है तो गांधी सरीखे संत के यहां। कहा जाता है कि गांधी और गरीब दास के पात्र में इतनी समानता थी कि सेंसर बोर्ड से अनुमोदित कराने में चौधरी को एड़ी-चोटी एक करनी पड़ी। कहानी का अंत भी आपत्तिजनक है। बांध का अचानक टूटना दैवीय हस्तक्षेप का लक्षण है। कितना अच्छा होता अगर यही कार्य रामकी के नेतृत्व में आश्रमवासियों ने किया होता। खुदा की बात एक हताश,

बेसहारा और दलित स्त्री की व्यथा-कथा बन कर रह गयी।

दूसरी फिल्म चंडीदास 1934 में न्यू थियेटर्स के बैनर से बनायी गयी। बंगाल के वैष्णव संतों के जीवन-चरित्रों से प्रभावित चंडीदास अपने समय की लोकप्रिय फिल्मों में से है। चंडीदास धोबी जाति की स्त्री रामी से प्रेम करता है। यह विजय नारायण नामक व्यापारी को फूटी आंख नहीं सुहाता। कारण, विजय नारायण स्वयं रामी पर आसक्त है। लेकिन रामी विजय नारायण से घृणा करती है। विजय नारायण चंडीदास से बदला लेना चाहता है। एक दिन उसने गांव के पंडित को विश्वास में लेकर चंडीदास को चुनौती दी कि वह प्रायश्चित्त करे (रामी से संबंध तोड़ ले) अन्यथा जाति से बहिष्कृत होने के लिए तैयार हो जाए। इस पर चंडीदास ने सारे गांव के समक्ष अस्पृश्यता की निंदा की। चंडीदास के तर्कों के सामने पंडित को भी झुकना पड़ा। इस तरह वैष्णव परंपरा की विजय हुई और दलित हिंदु समाज का हिस्सा बना रहा। 1935 में शांताराम के निर्देशन में बनी धर्मात्मा संत परंपरा पर आधारित फिल्मों की अगली कड़ी है। धर्मात्मा का नायक एकनाथ है। एकनाथ अस्पृश्यता को नहीं मानता। वह अछूतों की तरफदारी करता है। इससे सवर्ण समाज में गहरा असंतोष है। एक दिन एकनाथ ने जब ब्राह्मणों की मौजूदगी में अछूतों को भोजन कराया तो सवर्णों की सहनशीलता जवाब दे गयी। बात इतनी बिगड़ गयी कि एकनाथ के पुत्र ने भी अपने पिता के साथ रहने से इंकार कर दिया। सवर्णों का मुखिया गांव का महन्त है। उसके कारण एकनाथ का जीना दूभर होता जा रहा है। इस बीच महन्त के जरिये सवर्ण समाज काशी के विख्यात पंडित प्रज्ञानंद शास्त्री को गांव आने का निमंत्रण देते हैं। उन्हें विश्वास है कि शास्त्री के हाथों पराजित होकर एकनाथ का कद छोटा हो जाएगा। लेकिन आश्चर्य! शास्त्री स्वयं एकनाथ के सामने नत-मस्तक हो गए। गौरतलब है कि इस फिल्म का नाम पहले महात्मा (गांधी?) रखा गया था लेकिन सेंसर बोर्ड के एतराज जताए जाने पर बदल कर धर्मात्मा रख दिया गया।

चंडीदास और एकनाथ पर मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के दलित बिंबों का प्रभाव देखा जा सकता है। भक्तिकालीन संतों ने सामान्य रूप से जाति व्यवस्था की कठोरता को नकारा या और एक समरस समाज की कल्पना की थी। लेकिन यह मान के चलना की चंडीदास और एकनाथ की प्रेरणा मध्यकाल है, दोषपूर्ण होगा। दोनों फिल्मों के संदर्भ बीसवीं शताब्दी का भारतीय समाज है। बीसवीं शताब्दी में भक्ति परंपरा चैतन्य महाप्रभु के आंदोलन से होते हुए तथा ब्रह्म समाज के जरिये बंगाल के उस भ्रदलोक तक पहुंची जो कला और साहित्य के नवोत्थान से संबंधित था। इसी प्रकार महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र (नागपुर) ने भी भक्तिकाल से पूर्ण संबंध विच्छेद नहीं किया। बीसवीं शताब्दी में इसका प्रभाव समाज-सुधारकों तथा किसान फागोजी बंसोडे (1870-1946) तथा गणेश अक्काणी गवई

(1888-1974) जैसे दलित नायकों में देखा जा सकता है। अंबेडकर ने भक्तिकालीन समाज सुधार के एजेंडे को ठुकरा दिया क्योंकि उसमें जाति के प्रतिकार के साथ दलित मुक्ति का रास्ता नहीं था।

तीस के दशक की बहुचर्चित फिल्म अछूत कन्या है। हालांकि यह फिल्म एक अछूत बालिका (कस्तूरी) की कहानी है फिर भी इसमें ऐसा कोई भी दृश्य नहीं है जो अस्पृश्यता को प्रकाश में लाता हो। फिल्म की शुरुआत रेलवे क्रासिंग के दृश्य से होती है जिसमें एक व्यक्ति एक महिला की हत्या करने जा रहा है। महिला कस्तूरी है और व्यक्ति उसका पति। शेष कहानी फ्लैशबैक में है। वस्तुतः अछूत कन्या निरंजन पॉल की रचना 'द लेवल क्रासिंग' पर आधारित एक प्रेमगाथा है। कस्तूरी दलित है। वह गांव के एक ब्राह्मण युवक प्रताप से प्रेम करती है। प्रताप भी उसे चाहता है। लेकिन हिंदू समाज इस रिश्ते को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। कस्तूरी का विवाह सजातीय युवक से कर दिया जाता है। एक दिन अचानक कस्तूरी और प्रताप की मुलाकात मेले में हो जाती है। कस्तूरी का पति ईर्ष्या से भर उठता है। उसे संदेह है कि यह मुलाकात पूर्व-नियोजित थी। वह प्रताप पर जानलेवा हमला करता है। लड़ते-लड़ते दोनों रेलवे क्रॉसिंग तक जा पहुंचते हैं। रेलगाड़ी बस आने ही वाली है। कस्तूरी दोनों को छुड़ाने की कोशिश में खुद ही रेल के पहियों के नीचे आ जाती है। इस तरह एक अछूत बालिका अपने जीवन का बलिदान देती है ताकि समाज में ऊंची और नीच जाति के लोग शांति से रहे। यही गांधी का घोषित एजेंडा भी था। बी.डी.गर्ग लिखते हैं कि हिमांशु राय ने गांधी को अछूत कन्या दिखाने की बहुतेरी कोशिश की किंतु गांधी राजी न हुए।

गांधी ने ऐसा क्यों किया? इसे जानने के लिए सिनेमा के प्रति उनकी दृष्टि को समझना जरूरी है। 1927 में इंडियन सिनेमैटोग्राफ कमेटी के अध्यक्ष दीवान बहादुर रंगचरियर ने गांधी से सिनेमा के बारे में उनके विचारों को जानना चाहा। इस संबंध में उन्होंने गांधी को एक पत्र लिखा जिसके साथ एक प्रश्नावली भी भेजी। गांधी ने इस प्रश्नावली को रंगचरियर को लौटाते हुए लिखा।

...मैं आपकी प्रश्नावली का जवाब देने के लिए अनुपयुक्त हूँ क्योंकि मैं कभी सिनेमा देखने नहीं गया। लेकिन एक बाहरी को भी स्फुट है कि सिनेमा ने कैसे पाप किये हैं। जो अच्छा किया है उसे अभी साबित किया जाना बाकी है। बिम्ब इस घटना के कुछ वर्ष बाद (1938) जब सिने-कर्मियों ने सिनेमा की रजत जयंती पर पुनः उम्मीद जतायी कि गांधी सिनेमा के बारे में सकारात्मक संदेश भेजे और इस संबंध में उन्होंने गांधी को पत्र लिखा, तो गांधी ने उन्हें फिर नाउम्मीद किया। गांधी के एवज में उनके सचिव ने आयोजकों को लिखा कि 'बापू केवल उन्हीं आयोजनों के लिए संदेश भेजते हैं जिनकी महत्ता संदेहास्पद नहीं है।' यदि वह सिनेमा को इतना बुरा मानते थे तो उसके



बारे में खुलकर प्रचार क्यों नहीं किया? इसके जवाब में गांधी ने 5 मई 1942 के हरिजन में लिखा : अगर मैं उसके (सिनेमा) खिलाफ धरना दूँ तो मैं अपनी जाति और महात्मत्व दोनों से हाथ धो बैटूंगा।

सिनेमा के कारण किसी भी व्यक्ति की जाति और प्रतिष्ठा छिन जाना- यह चौंका देने वाला बयान है। इससे दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम, गांधी जाति खो जाने की संभावना से इतना अधिक ग्रसित थे कि सिनेमा से भी उन्हें खतरा नज़र आ रहा था। द्वितीय गांधी जैसा प्रखर व्यक्ति भी सिनेमा की उपादेयता का अंदाज़ा नहीं लगा सका। शायद यही कारण था कि स्वतंत्रता आंदोलन समाप्त हो जाने के बाद भी सिनेमा के प्रति सामान्यतः उदासीन रहा।

सिनेमा के प्रति गांधी के उक्त रवैये से संस्कृति कर्मी आहत हुए। उर्दू के प्रख्यात रचनाकार ख्वाजा अहमद अब्बास ने, जो उस समय निर्देशन की कमान संभालने की तैयारी में थे, गांधी को एक खुला पत्र लिखा जिसमें उन्होंने बापू के रवैये पर दुख प्रकट करते हुए कई उत्कृष्ट फिल्मों के उदाहरण पेश किये। किंतु जैसा कि अपेक्षित था गांधी ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखायी।

चालीस के दशक में दलित बिंब को रेखांकित करने वाली सबसे महत्वपूर्ण फिल्म अछूत है। गांव के कुएं से पानी के इस्तेमाल पर लगाया प्रतिबंध लक्ष्मी के पिता को ईसाई बनने पर मजबूर कर देता है। लक्ष्मी की मां अपना धर्म छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। पारिवारिक कलह के बीच परिस्थितियां इस प्रकार बदलती हैं कि लक्ष्मी शहर में रहने वाले एक व्यवसायी परिवार के शरण में चली जाती हैं इस परिवार में लक्ष्मी की हम उम्र संतान सविता भी है। दोनों सहेलियां इकट्ठा शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। दुर्योग से दोनों ही एक युवक से प्रेम कर बैठीं। जब सविता को पता चला तो उन्होंने लक्ष्मी को वापस गांव भेज दिया। वैसे भी लक्ष्मी अछूत है। गांव पहुंच कर लक्ष्मी देखती है कि छुआछूत अभी बरकरार है। वह अपने बाल सखा राम की मदद से छुआछूत के खिलाफ अछूतों को लामबंद करती है। गांव के सवर्ण समाज को लक्ष्मी की गतिविधियां रास नहीं आईं। वह छल द्वारा लक्ष्मी को जेल भिजवा देते हैं। इस बीच रामू की असमय मृत्यु हो जाती है। अछूत बेसहारा हो गए। लेकिन वह लक्ष्मी और रामू के बलिदान को बेकार नहीं होने देना चाहते हैं। उनके संकल्प ने सवर्ण समाज को जड़ से हिला दिया। अंततोगत्वा गांव के मंदिर में सभी जातियों को प्रवेश की अनुमति मिल गयी। फिल्म के अंतिम दृश्य में गांधी के वायकोम सत्याग्रह (1927) की प्रतिध्वनियां साफ सुनी जा सकती है। कुल मिलाकर इस दौर की अन्य फिल्मों की तरह अछूत भी गांधीवादी की परिधि में रह कर दलित समस्या का निराकरण ढूंढती है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में अस्पृश्यता के विषय पर बनी पहली महत्वपूर्ण फिल्म सुजाता (1959, विमल राय) है। सुजाता एक अछूत लड़की है जिसका लालन-पालन ब्राह्मण परिवार में हुआ। इस परिवार के मुखिया चटर्जी बाबू की एक बेटी रमा है जो सुजाता की हमउम्र है। चटर्जी बाबू चाहते हैं कि वह रमा का विवाह दूर के रिश्ते की बुआ के भतीजे अधीर के साथ कर दें। लेकिन इस बीच अधीर यह जानते हुए भी कि वह अछूत है, सुजाता से प्रेम करने लगा है। जब रमा की मां चारू को इस बात का पता चलता है तो वह सारा इल्जाम सुजाता पर थोप देती है। सुजाता चारू का अत्याधिक सम्मान करती है। वह चारू को दुखी नहीं देख सकती। वह आत्महत्या करने की सोचती है। वह खुदकुशी करने के लिए जैसे ही नदी के घाट पर पहुंची तो क्या देखती है कि दीवार पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है 'आत्महत्या पाप है-गांधी जी'। सुजाता को अपनी गलती का एहसास होता है और वह घर लौट आती है। कुछ दिन बाद चटर्जी बाबू की बुआ अपने भतीजे के लिए रमा का हाथ मांगने पहुंचती है। चटर्जी बाबू प्रसन्न हैं लेकिन इस विवाह के लिए न तो रमा तैयार है और न ही अधीर। चारू को लगता है कि रमा की अस्वीकृति के पीछे भी सुजाता का हाथ है। भावावेश में आकर वह सुजाता को भला-बुरा कहने लगती है। तभी उसका पैर फिसल जाता है और वह सीढ़ियों से नीचे गिर जाती है। चारू गंभीर रूप से घायल है। उसे खून की सख्त जरूरत है। लेकिन अफसोस सुजाता को छोड़कर चारू का ब्लड ग्रुप किसी से नहीं मिलता। लेकिन क्या एक अछूत का खून ब्राह्मण की रगों में बहेगा। सुजाता खून देने के लिए सहर्ष तैयार हो जाती है। इस प्रकार चारू की जान बच जाती है। होश आने पर उसे एहसास होता है कि चाहे अछूत हो या सवर्ण लहू का रंग एक ही। अपने तमाम भावुकतापूर्ण दृश्यों ओर नूतन (सुजाता) की बेमिसाल अदाकारी के बावजूद भी सुजाता दलित विमर्श की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। इस तर्क को निम्नलिखित बिंदु स्पष्ट करते हैं। (1) सुजाता पराश्रित है अछूत है इसलिए वह विद्रोह नहीं कर सकती (2) सुजाता रमा की अपेक्षा अधिक सुशील और कुशल है। लेकिन वह अछूत है (3) संकट की घड़ी में सुजाता को गांधी मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। (4) ब्राह्मण को खून दे कर वह अस्पृश्यता के ऋण से मुक्त हो जाती है। सुजाता के बारे में सुमिता चक्रवर्ती ने ठीक ही लिखा है:

“निचली जाति की पहचान तभी मिट सकती है जब उसका समन्वयन ऊंची जाति के साथ हो जाए।”

स्वातंत्र्योत्तर काल में दलित बिंब से रुबरु होने की अच्छी मिसाल प्रेमचंद की कहानी पर आधारित सत्यजित राय की फिल्म सद्गति (1981) है। सद्गति के प्रमुख पात्र ब्राह्मण घासीराम, अछूत दुखी और उसकी पत्नी मुनरिया है। रंगमंच और कलात्मक सिनेमा से जुड़े अदाकारों की मदद से सत्यजित राय

ने दुखी की निर्धनता, मनुष्या के भोलेपन और घासीराम की धूर्तता को पर्दे पर ज्यों-का-त्यों दिखाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। बीमार दुखिया का कुल्हाड़ी से लकड़ी चीरना। घासीराम का पूजा-पाठ के नाम पर आडंबर, अंतिम दृश्य में दुखीराम की लाश को दूर तक घसीटता घासीराम-दर्शक को गहराई से प्रभावित करते हैं। किंतु अच्छी अदाकारी और जीवंत निर्देशन के बावजूद भी सद्गति को दलित विमर्श का दस्तावेज नहीं माना जा सकता है। हाल ही में प्रकाशित पुस्तक में विनोद दास के अनुसार सद्गति अधिक प्रभाव नहीं छोड़ती क्योंकि मूल कहानी में कांट-छांट की गयी है:

फिल्म में... कई ऐसे प्रसंग हैं जिनमें संवादों को काटने से फिल्म की अंतर्वस्तु के तेज पर असर पड़ा है। खासतौर से जिन संवादों में जाति और वर्ग को ले कर प्रेमचंद लानत-मलामत करते हैं, आकस्मिक नहीं है कि उन्हें फिल्म में जगह नहीं मिली... अंतिम पंक्ति में जिस तरह ब्राह्मणों द्वारा शोषण को अन्य शोषकों की तुलना में भयावह बताया गया है, उससे ब्राह्मणवाद के विरुद्ध एक तीखा आक्रोश उपजता है, लेकिन फिल्मकार इस अंश को निकाल कर इस आक्रोश की तल्ली, तुर्झी और तीखेपन को मंद और कुंद कर देते हैं... प्रेमचंद के यहां ब्राह्मणवाद के लिए नफरत और गुस्सा अपने प्राकृतिक और अपरिष्कृत रूप में आता है जिसे फिल्म में परिष्कृत और भद्रता की पोशाक में पेश किया गया है।

सद्गति के संबंध में उपरोक्त टिप्पणी अत्यंत समीचीन है। किंतु उसमें एक बात और जोड़ी जा सकती है। यदि राय प्रेमचंद की मूल कहानी के साथ छेड़छाड़ न करते तो क्या ब्राह्मणवाद का धिनौना चेहरा और अधिक स्पष्ट नज़र आता? मूल कहानी में भी पात्र थके-हारे दलित हैं वह नाउम्मीदी और हताशा के प्रतीक हैं प्रतिकार और संघर्ष के नहीं। कंवल भारती लिखते हैं किसकी हुई सद्गति? क्या दुखी की सद्गति हुई... जो भूखा प्यासा रह कर पंडित जी के घर बेगार करते-करते मर जाता है, और जिसे पैर में रस्सी बांध कर गांव के बाहर घसीट कर ले जाया जाता है... या पंडित घासीराम की हुई जिसने चमार की लाश उठाने का काम किया... प्रेमचंद को दलित आंदोलनों की खबर नहीं थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेकिन दलितों में हो रहे वैचारिक परिवर्तनों का कोई संकेत प्रेमचंद की कहानियों में नहीं मिलता। दुखी और झुरिया की ब्राह्मण भक्ति को तोड़ा जा सकता था। यदि प्रेमचंद ने यह किया होता तो वह सही मायने में सद्गति होती।

आश्चर्यजनक है कि स्वतंत्रता के चौतीस बरस बाद भी सत्यजित राय जैसे संवेदनशील निर्देशक के मन में दलित बिंब के सिनेमाई निरूपण को लेकर भटकाव और विभ्रम की स्थिति बनी हुई थी। नहीं तो वह प्रेमचंद की कहानी का चयन ही क्यों करते। संभव है यह चयन सौद्देश्य किया गया था क्योंकि

दलित प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देने में उनकी उच्च जातीय भद्रलोक मानसिकता आड़े आ रही थी।

1947 के बाद दलित प्रश्न को केंद्र में लाने वाली तीसरी महत्वपूर्ण दीक्षा (1991, अरुण कौल) है। यू. अनंत मूर्ति के उपन्यास पर आधारित दीक्षा एक ब्राह्मण गुरु और उसकी पुत्री की गाथा है। गुरुकुल में गुरु का प्रिय शिष्य कोगा भी रहता है। कोगा दलित है लेकिन धर्मशास्त्रों को पूरी तरह समझने की लालसा रखता है। इस बीच एक हादसा हो गया। गुरु की गैरहाजिरी में उनकी पत्नी गर्भवती हो गयी। अजन्मी संतान का पिता स्थानीय स्कूल का अध्यापक है जो एक विधवा से विवाह करने का साहस नहीं जुटा पाता। बेचारी विधवा क्या करे। उसे गर्भपात कराना पड़ता है जब गुरु लौटा तो उसने घटश्राद्ध (जीवित व्यक्ति का श्राद्ध) करने का फैसला किया। जीवित व्यक्ति उसकी विधवा पुत्री थी। ब्राह्मणों ने गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा की लेकिन शिष्यों में विद्रोह की आग भड़क उठी। विद्रोही शिष्यों में कोगा भी है। उसे अब दीक्षा की जरूरत नहीं रह गयी और उसने आश्रम छोड़ दिया। सद्गति की तरह दीक्षा भी ब्राह्मणों के कर्मकाण्डीय जीवन तथा पाखंडों पर प्रश्नचिन्ह लगाती है लेकिन जाति व्यवस्था से मुक्त होने का रास्ता नहीं दिखाती।

श्याम बेनेगल के निर्देशन में बनी समर (1999) दलित बिंब को प्रकाशित करने वाली नवीनतम प्रस्तुति है। यह फिल्म 1991 के मध्य प्रदेश के कुल्ल गांव में होने वाली सच्ची घटना पर आधारित है। इस वर्ष दलित बहुल कुल्ल गांव में एक हैंड पम्प लगाया गया जिसका सर्वाधिक विरोध राजपूत जाति के सरपंच और उसके सहयोगियों ने किया। कुल्ल में दलित उत्पीड़न का इतिहास काफी पुराना है। बात-बात में उन्हें पीट देना कोड़े लगाना, यातनायें देना, रोजमर्रा के जीवन का हिस्सा है। समर को यथार्थवादी स्पर्श प्रदान करने के लिए उसका फिल्मांकन इसी गांव में किया गया। फिल्म के मुख्य आख्यान की बुनावट समानान्तर चलने वाले उपाख्यानो की मदद से की गयी। मसलन, एक आख्यान बंबई से कुल्ल पधारे एक फिल्म यूनिट के वास्तविक अनुभवों का लेखा-जोखा है तो दूसरा 1991 की घटना को नाटकीय ढंग से पुनर्जीवित करने का प्रयास। इस प्रकार बेनेगल ने सिनेमाई आख्यान के परंपरागत रूप को तोड़ने की कोशिश की। लेकिन दलित जीवन पर बनी अन्य फिल्मों की तरह समर भी दलितों के प्रति शहरी/सवर्ण समाज की दया-दृष्टि का प्रतीक बन कर रह गयी।

उपरोक्त सर्वेक्षण की मदद से मैंने यह दिखाने की कोशिश की है कि हिन्दी सिनेमा के लंबे इतिहास में दलित-विषयक फिल्में या तो दलित-विमर्श के अधूरे एजेंडे को साथ लेकर चली या राजनीतिक यथास्थिति को बनाए रखने में कामयाब हुई। दलित विचारक कांचा इल्लैया का वक्तव्य, “मुख्यधारा

इतिहास-लेखन ने दलित-बहुजन संदर्भ को भारतीय इतिहास में शामिल करने के लिए कुछ नहीं किया”, मुख्यधारा सिनेमा के लिए भी उतना ही सटीक है। गांधीवाद की गिरफ्त में छटपटाते दलित विमर्श को मुक्ति की पहली किरण तब दिखायी पड़ी थी जब वह फुले, अंबेडकर तथा नायकर के विचारों से रुबरु हुआ। अफसोसनाक है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में भी फिल्मकार अस्पृश्यता उन्मूलन को ही दलित विमर्श की तार्किक परिणिति मान बैठे। रामू वासुदेवन का मानना है कि यह एक सचेतन निर्णय था। 1945 के बाद हिंदी सिनेमा हिंदू राष्ट्रवादी से बुरी तरह ग्रसित हो गया। हिंदू अलगाव तथा दर्शकों की उपेक्षा के भय ने सिने-उद्योग को ऐसी फिल्में बनाने के लिए मजबूर किया जो समरस हिंदू राष्ट्र की ऐसी पहचान बनाने में सहायक हो जिसमें अन्य पहचानें धीरे-धीरे विलीन हो जाए।

वासुदेवन के कथन को समझने के लिए तत्कालीन दलित और गैर-दलित को और गहराई से देखना पड़ेगा। कांग्रेस ने प्रारंभ से ही स्वयं को सामाजिक विषयों से तटस्थ रखा था। फिर भी उसकी एक सुनिश्चित सामाजिक दृष्टि थी। जो उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में, शताब्दियों में चल रहे हिंदू समाजसुधार आंदोलनों से प्रभावित हुई थी। जिस प्रकार समाजसुधार संगठन जातिप्रथा को समूलन नष्ट करने का संकल्प नहीं ले सके ठीक उसी प्रकार कांग्रेस भी जाति को तोड़ने का साहस नहीं जुटा पायी। गांधी का नेतृत्व सम्हालने के बाद कांग्रेस के उच्च जातीय आग्रह पहले से अधिक प्रबल हो गये। जाति पर गांधी ने 8 दिसंबर, 1920 को यंग इंडिया में लिखा :

“प्रत्येक संस्था की तरह वह (जाति व्यवस्था) भी बाह्य तत्वों से दुष्प्रभावित हुई... मैं समझता हूँ कि चार खंड (वर्ण) मौलिक, सहज और अनिवार्य है... मैं ऐसे हर प्रयास के खिलाफ हूँ जो इन मूल खंडों को नष्ट करने के लिए किया जाए... मैं ब्राह्मणों को ब्राह्मण मानना हित कर समझता हूँ क्योंकि जीवनपर्यन्त उसे ब्राह्मण रहना है। यदि वह ब्राह्मण की तरह व्यवहार नहीं करता है तो वह ब्राह्मणों को मिलने वाले सम्मान से वंचित हो जाएगा।” जाति प्रथा को तर्क-सम्मत बताते हुए गांधी ने उसकी ऐतिहासिक उत्पत्ति पर प्रकाश डाला। यंग इंडिया में 5 जनवरी, 1921 को प्रकाशित हुआ :

ऐतिहासिक तौर पर कहा जा सकता है कि ‘जाति’, भारतीय समाज की प्रयोगशाला में सामाजिक समायोजन के उद्देश्य से चलाया गया मानवीय प्रयोग है। यदि हम इसकी विफलता को सिद्ध कर सकें तो हम इसे विश्व में उपजी संगदिल प्रतियोगिता और सामाजिक विखंडन के निदान के रूप में पेश कर सकते हैं।

जब नागपुर के 1920 के ऐतिहासिक सम्मेलन में अस्पृश्यता की तुलना ‘पाप’ से की गयी तो स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस की वैचारिक दृष्टि में जाति की अनिवार्यता तथा अस्पृश्यता के बीच

कोई विरोधाभास नहीं है। इस तरह जाति व्यवस्था के सुधार के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। 1922 में कांग्रेस कार्य समिति ने जाने माने आर्य समाजी स्वामी श्रद्धानंद के नेतृत्व में एक कमेटी का गठन किया जिसका उद्देश्य अस्पृश्यता से निपटने के लिए कांग्रेस की रणनीति तय करना। धनाभाव के कारण यह कमेटी अपना कार्य पूरा नहीं कर सकी। बाद में कांग्रेस की सहमति से यह कार्य हिंदू महासभा को सौंप दिया गया। श्रद्धानंद ने एक बार फिर दायित्व संभाला। अस्पृश्यता से निपटने के लिए श्रद्धानंद ने चार-सूत्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसमें दलित जातियों के साथ स्कूलों, कुओं और सार्वजनिक स्थानों में किये जाने वाले भेदभाव को समाप्त करने की वकालत की गयी। श्रद्धानंद के प्रस्ताव पारित हो जाने पर हिंदू रूढ़ि को संगठित होने का अवसर मिल गया। 1924 में महासभा की वार्षिक बैठक में कहा गया कि दलितों को यज्ञोपवीत तथा वेदों के अध्ययन के अधिकार देना तथा उनके साथ भोजन करना परंपरा और धर्मशास्त्रों के विपरीत होगी। इसी वर्ष गांधी को ट्रॉवनकोर स्थित वायकोम के दलित नेताओं का निमंत्रण मिला कि वह वायकोम में मंदिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह का आयोजन करे। गांधी ने वायकोम पहुंच कर पुजारियों को समझाना-बुझाना चाहा लेकिन दलित जातियों को मंदिर-प्रवेश के प्रश्न पर यथास्थिति बनी रही। निराश हो कर गांधी वापस लौट आए। वायकोम के बाद उन्होंने अस्पृश्यता उन्मूलन को समर्थन देना समाप्त तो नहीं किया मगर अस्पृश्यता के बारे में बयान देते समय सतर्कता बरतने लगे ताकि सवर्ण जातियों को ठेस न पहुंचे।

उधर गांधी के राजनैतिक प्रतिद्वंद्वी अंबेडकर ने अपनी रचनाओं और वक्तव्यों के माध्यम से जाति प्रथा के बारे में फैलाये जा रहे भ्रामक विचारों का खुल कर खंडन किया। वर्ण व्यवस्था पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा कि यह “एक ऐसी व्यवस्था है जो स्थायी और कठोर है तथा जिसमें पायदान चढ़ने पर सम्मान मिलता है और उतरने पर हिकारत।” अंबेडकर जाति को सोपानात्मक असमानता का प्रतीक मानते थे। अतएव : असमानता स्वयं में उतनी खतरनाक नहीं है जितनी की सोपानात्मक असमानता क्योंकि अधीन जातियां आपस में इतनी बंटी हुई हैं कि वह शोषण के खिलाफ एकजुट नहीं हो पाती।

सोपानात्मक असमानता से ग्रसित जाति व्यवस्था पर तीखी टिप्पणी करते हुए अंबेडकर ने लिखा : जाति का हिंदुओं की मूल्य व्यवस्था पर बहुत बुरा असर पड़ा... जाति ने लोक परमार्थ की भावना को नष्ट कर दिया... सार्वजनिक विचार दृष्टि को बाधित किया... हिंदू का लोक उसकी जाति है। ... उसकी निष्ठा केवल जाति तक सीमित है।

अंबेडकर ने इसी आधार पर हिंदू धर्म को समूल नष्ट करने की वकालत की :

जिसे हिंदू धर्म कहता है वह आदेशों और वर्जनाओं का पिटारा है...(जहां) आदर्शों के प्रति निष्ठा नहीं है बल्कि आदेशों के लिए सहमति है... मुझे यह कहने में तनिक भी हिचक नहीं है कि ऐसे धर्म को नष्ट कर देना चाहिए। गांधी के साथ पूना में समझौता करने (1932) से पहले ही अंबेडकर का भ्रम दूर हो चुका था कि गांधीवाद और कांग्रेस नेतृत्व दलितों के उत्थान का कारण बन सकते हैं। इसलिए उन्होंने दूसरी गोल मेज सम्मेलन के दौरान ही दलितों के लिए पृथक निर्वाचन की मांग की। गांधी ने एतराज जताते हुए कहा कि इससे हिंदू समाज बंट जाएगा। एक वर्ष बाद जब सरकार ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन की घोषणा की तो गांधी आमरण अनशन पर चले गये। पूना समझौते से स्थिति कुछ हद तक संभल गयी। पूना में मिली सफलता के बाद गांधी ने तुरंत 'हरिजन' नामक समाचार पत्र के प्रकाशन की घोषणा की। इसके अलावा उन्होंने अखिल भारतीय अस्पृश्यता विरोधी लीग का गठन किया जिसके एक सदस्य अंबेडकर भी थे। अंबेडकर ने प्रस्ताव रखा कि लीग अंतर्राष्ट्रीय विवाह तथा सामूहिक भोज के लिए अभियान चलाये। इसे लीग के आला कमान ने ठुकरा दिया। इस पर अंबेडकर और उनके दो अन्य दलित साथियों ने लीग से इस्तीफा दे दिया। लीग का पुनर्गठन किया गया और उसे हरिजन सेवक संघ के नाम से बुलाया जाने लगा। इस घटना ने अंबेडकर को आश्वस्त कर दिया कि गांधी और उनके अनुयायी अस्पृश्यता उन्मूलन के प्रति संजीदा नहीं हैं। अतएव उनका गांधी और कांग्रेस के प्रति रुख पहले से अधिक आक्रामक हो गया। यही कारण था कि वह व्यावहारिक राजनीति में मुस्लिम लीग के करीब होते चले गये। उन्होंने न केवल 1939 में कांग्रेस द्वारा मंत्रिमंडलों से इस्तीफा दिये जाने का मुस्लिम लीग के साथ मिलकर समवेत स्वरों में स्वागत किया बल्कि पृथक मुस्लिम राष्ट्र के निर्माण के पक्ष में विचार व्यक्त किये।

यदि राष्ट्रीय राजनीति के उपरोक्त संदर्भ केंद्र में रखे जाएं तो रामू वासुदेवन का कथन कि फिल्मकार धीरे-धीरे ऐसी फिल्में बनाने के लिए विवश होते जा रहे थे जो 'समरस हिंदू राष्ट्र की पहचान बनाने में सहायक हो', चरितार्थ होता दिखलायी पड़ेगा।

दलित आकांक्षाओं को न केवल फीचर फिल्म के निर्देशकों ने बल्कि डाक्यूमेंट्री सिनेमा ने भी नज़रअंदाज़ किया। डाक्यूमेंट्री सिनेमा के वरिष्ठ और अनुभवी निर्देशक ने एक पुस्तक में सरकारी स्तर पर महापुरुषों के जीवन पर बनी लगभग 50 फिल्मों की फेहरिस्त प्रकाशित की है। लेकिन इसमें किसी भी दलित नायक का नाम नहीं है। दलित पक्ष को फिल्मांकित करने के प्रति दुराव विगत शताब्दी के अंत तक चलता रहा। दलित लेखक दुसाथ के अनुसार जब उन्होंने 1990 में दूरदर्शन के सामने अंबेडकर के जीवन पर धारावाहिक बनाने का प्रस्ताव रखा तो सरकार ने चार वर्ष तक टालमटोली करने के बाद भी

फैसला नहीं लिया। बाद में जब किसी अन्य व्यक्ति को यह कार्य सौंपा गया और आठ किशतों में धारावाहिक बनाया गया तो वह हर मायने में घटिया था। दुसाथ मानते हैं कि लगभग यही हथ जब्बार पटेल के निर्देशन में बनी अंबेडकर फिल्म का हुआ। वह 'कृति' कम 'कुकृति' अधिक साबित हुई।

दलित विमर्श के प्रति तिरस्कार भाव फिल्म निर्माण के साथ-साथ फिल्म लेखन में भी साफ-साफ दिखायी देता है। भारतीय सिनेमा के बौद्धिक और ऐतिहासिक पहलुओं पर दो महत्वपूर्ण ग्रंथ-सुमिता एस चक्रवर्ती की National Identity on Indian Popular Cinema (1996) तथा माधव प्रसाद की रचना Ideology of The Hindi Film (1998) है। चक्रवर्ती की किताब जनप्रिय सिनेमा में राष्ट्रीय पहचान को रेखांकित करने के संदर्भ में लिखी गयी है। मगर इस पहचान में दलित पक्ष लगभग नदारद हैं। दलित के नाम पर सिर्फ एक फिल्म सुजाता (पृ. 111-117) का अध्ययन किया गया है। माधव प्रसाद की रचना इससे एक चरण आगे हैं हिंदी फिल्म की विचारधारा में न तो अंबेडकर का जिक्र है और न ही अस्पृश्यता का हां, गांधी पर कई टिप्पणी मौजूद हैं। प्रसाद द्वारा प्रस्तुत की गयी विषय तालिका में भी अंबेडकर या दलित समस्या का कोई उल्लेख नहीं है। इसी तरह 1998 में प्रकाशित गौतम कौल की रचना Cinema and the Indian Freedom Struggle इसी व्याधि से ग्रसित है। कौल की इतिहास की समझ बी.डी. पांडेय के बहुखंडीय इतिहास Century on Indian National Congress (1985) पर आधारित है। कौल विगत तीन दशकों में इतिहास लेखन में चल रहे मंथन के प्रति जानकारी का कोई परिचय नहीं देता। उनके लिए स्वतंत्रता संग्राम का अर्थ कांग्रेस पार्टी और उसकी गतिविधियों तक सीमित है कौल के पास अच्छा अवसर था कि वह हमें बताते कि भारतीय सिनेमा ने दलित पक्ष को क्यों नकारा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इस संबंध में कवल भारती की टिप्पणी बिल्कुल सटीक है :

“दरअसल उलझाव वहीं पैदा होता है, जहां दलित समस्या को सिर्फ दलितों की समस्या मान लिया जाता है। अधिकांश हिंदू बुद्धिजीवियों की उलझन की वजह यही है। वे दलित समस्या में भी अलगाववादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। इसलिए जब वह इस समस्या पर विचार करते हैं तो यह उन्हें अपनी समस्या प्रतीत नहीं होती... दलित चिंतन में राष्ट्र पूरे भारतीय परिवार या कौम के रूप में है।”

सवर्ण आग्रहों और दलितों के तिरस्कार से ग्रसित हिंदी सिनेमा सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय सिनेमा नहीं हो सकता। उसे राष्ट्रीय सिनेमा में तब्दील करने के लिए एक नये सिरे से रचना होगा। सच्चे राष्ट्रीय सिनेमा के निर्माण में केवल दलित किरदार की उपस्थिति काफी न होगी। पात्र-निरूपण को पहले से तय

करना पड़ेगा। यह निर्धारित करना कि फिल्म-पाठ दलित पात्रों को उत्पीड़न, दासता और पराजय से मुक्ति दिलाता है या नहीं। यह तभी संभव है जब पाठ का ताना-बाना 'भोगे हुए यथार्थ' को केंद्र में रख कर बुना गया हो। यानी संसार दलित की नज़रों से देखा जाए। नये फिल्म पाठ के किरदार थके, हारे लोग न हों बल्कि समाज में जुझारू घटक, जो बेहतर भविष्य के प्रति पूरी तरह संकल्पित हों। अर्थात् ऐसा सिनेमा पूरी तरह से "राजनैतिक" होगा। एक बार उसके वैचारिक बिंदु निर्धारित कर लिये जाएं तो पाठ का व्याकरण, शॉट-निबंधन, कटिंग इत्यादि को तय करना आसान हो जाएगा।

ज़ाहिर है ऐसे नये फिल्म-पाठ को तैयार करना आसान नहीं है शुरुआत दलित नायकों के जीवन चरित्र पर आधारित फिल्मों से की जा सकती है। यह राष्ट्रीय सिनेमा के निर्माण का पहला चरण होगा। बाद में फिल्मकारों को दलित साहित्य की ओर उन्मुख होना पड़ेगा। आत्मकथ्य, दलित साहित्य की प्रमुख विशेषता है। शरण कुमार लिम्बाले (अक्कर माशी), बाबूराम बागुल (जब मैंने अपनी जात छुपायी), दया पवार (अछूत), लक्ष्मण माने (पराया), लक्ष्मण गायकवाड़ (उठाईगीर), पी.ई.सोना कांबले (चादों के पंछी), शांताबाई काले (छोरा कोलाटी का) मराठी में प्रकाशित बेजोड़ रचनाएं हैं। इस प्रकार राजू सोलंकी, जयंत परमार, दलपत चौहान हरीश मंगलम (गुजराती), यू.आर. अनंतमूर्ति, के सिद्धिलिंगप्पा (कन्नड़), गुरदयाल सिंह (पंजाबी), जयप्रकाश कर्दम, पुन्नी सिंह (हिंदी) द्वारा लिखित सैंकड़ों उपन्यास और कहानियां पटकथा लेखन का आधार बन सकती हैं। दलित साहित्य को पटकथा में बदलना चुनौतीपूर्ण होने के साथ-साथ सार्थक प्रयास होगा क्योंकि दलित रचनायें सच्चाई को तीखे अंदाज़ में प्रस्तुत करती हैं। दलित साहित्य का एक बड़ा हिस्सा मौखिक परंपरा में न्याविष्ट है। हर दलित समुदाय के पास व्यक्तिगत कथाओं का संग्रह है। यह कहानियां समरूप नहीं होती उनका चरित्र उपख्यानात्मक और खंडित होता है। साथ ही वह प्रायः कई दंत कथाओं के विलय से उपजती हैं। ऐसा साहित्य सिनेमा का तीसरा आधार-स्तंभ बन सकता है। नये सिनेमा को वर्तमान में चल रहे दलित संघर्षों की सच्चाई से अवगत कराना होगा कालचक्र बदलने से संघर्ष के बिंब भी बदल जाते हैं। नई परिस्थितियों से जूझने के लिए शास्त्र का नाकार ही काफी नहीं है, नए शास्त्रों को भी धारण करना पड़ता है। आजमाये नुस्खों के साथ नये उपचार भी तलाशने पड़ सकते हैं। वर्तमान में भारत के अलग-अलग प्रदेशों में चल रहे ज़मीनी संघर्ष जिन्हें 'जाति युद्धों' की संज्ञा प्रदान की गयी, दलित इतिहास और संस्कृति के महत्वपूर्ण दस्तावेज़ हैं। इसके अलावा वैश्वीकरण के युग में उपभोगता संस्कृति से निपटने के लिए दलितों द्वारा किये जा रहे प्रयास नये फिल्म पाठ के अनुभव क्षेत्र को समृद्ध कर सकेंगे।

साहित्य को सिनारियों तथा पटकथा में बदलने की अपनी समस्याएं हैं। मसलन, फिल्म पाठ साहित्य को सदा नये अंदाज़ में प्रस्तुत करता है। इससे प्रायः साहित्य का मौलिक स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। विश्व में शायद ही ऐसा कोई कथाकार हो जो अपनी रचना के फिल्मांकन से संतुष्ट हुआ हो। फिल्म लेखन स्वयं में नयी विधा है। उसकी अपनी भाषा है, बिंब है, व्याकरण है। दलित साहित्य को फिल्म पाठ में बदलना फिल्मकारों के लिए बड़ी चुनौती होगी। उन्हें राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे सिनेकर्मियों (निर्देशकों, संगीतकारों, अभिनेताओं, सेट डिजाइनरों) की पीढ़ी तैयार करनी होगी जो पर्दे पर दलित संवेदना को जीवंतता के साथ रूपांतरित कर सकें। यह एक महत्वकांक्षी योजना है क्योंकि इसके लिए प्रशिक्षण के नये केंद्र स्थापित करने पड़ेंगे तथा पुराने केंद्रों को संवेदनीकृत करना होगा। इस कार्य में दलित रंगकर्मियों से सहायता ली जा सकती है। गौरतलब है कि दलित चेतना के विकास में दलित रंग मंच की खासी भूमिका रही है।

नये दलित सिनेमा को एक बड़ी ज़िम्मेदारी उठानी है-तत्कालीन समाज में बदलाव लाने की। अतएव उसे व्यावसायिक सिनेमा की तमाम कमज़ोरियों से बचना होगा। यानी किस्सागोई के तरीके को दिलचस्प बनाने के साथ-साथ फिल्म को फूहड़ अभिव्यक्ति में बदलने से रोकना। स्वाभाविक है इस तरह के प्रयोग में फिल्म का सौंदर्यशास्त्र भी बदल जाएगा। हाल में प्रकाशित लेख में कर्दम ने हिंदी सिनेमा में दलित बंबों के निरूपण पर कई आपत्तियां उठाई हैं। कर्दम के अनुसार पहली दिक्कत यह है कि हिन्दी सिनेमा जाति व्यवस्था की कठोरता के प्रति या तो मौन है या उससे मुंह चुराता है द्वितीय, यह सिनेमा दलितों को करुणा/दया की दृष्टि से देखता है क्योंकि उसमें श्रेष्ठता का दंभ कूट-कूट कर भरा है। तृतीय, हिंदी सिनेमा में हिंसा का शिकार प्रायः दलित स्त्री है। कर्दम एक नये सौंदर्यशास्त्र की वकालत करते हैं। नया सौंदर्यशास्त्र क्या हो सकता है इसकी एक झलक लिंबाले दलित साहित्य के संदर्भ में देते हैं :

जो साहित्य मूल जागृति के लिए लिखा गया हो क्या उससे परिवर्तन की जगह आनंद या सौंदर्य की अपेक्षा करना उचित है...जहां दलित लेखक पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र को नकारता है वहीं अपने साहित्य के लिए अलग सौंदर्यशास्त्र की ज़रूरत भी स्वीकारता है।

पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र में चिरंतन माने जाने वाले तत्व-‘सत्य’, ‘शिव’, और ‘सुंदर’-दलित सौंदर्यशास्त्र की परिधि में आते ही उलट जाएंगे। लिम्बाले इन्हें ‘असत्य’, ‘अशिव’, और ‘असुंदर’ की संज्ञा देते हैं। यानि दलित फिल्मकार को सौंदर्य बोध के परंपरागत मानदंडों को नकारना होगा ताकि तैयार हो सके एक नये सौंदर्यशास्त्र की ज़मीन जो :

ईट-दर-ईट भौतिक वस्तुओं के उत्पादन और वितरण के हमारे लंबे अनुभव पर आधारित हो... हिंदूवाद, ब्राह्मणवाद, सामंतवाद तथा पूंजीवाद के नकार से बनी... पाठों की भाषा हमारी अपनी और स्वभाव में अलग होगी... जब तक शोषितों की संस्कृति और संवेदना को सार्वजनिक बहस में शामिल नहीं किया जाएगा, जब तक यह संस्कृति सार्वजनिक तौर पर दुश्मन की संस्कृति से नहीं टकराती, समतावादी समाज मिथ्या ही रहेगा।

कहने का मतलब स्पष्ट है कि नया दलित सिनेमा वर्तमान राजनीति से तटस्थ नहीं रह सकता। उसे आत्मसम्मान, धर्म और लोकतंत्र के नाम पर किये जा रहे छलावे के प्रति सजग होना पड़ेगा। चूंकि उसमें तड़क-भड़क, आडंबर और दिखावे के लिए जगह कम होगी इसलिए उस पर नीरस होने का आरोप लगाया जा सकता है। बेबाक हो कर बात कहने के लिए उसे अश्लील भी करार दिया जा सकता है। फिर भी यह स्थिति व्यावसायिक सिनेमा से बेहतर होगी जहां दंभ भरी शिष्ट भाषा और दोहरे मानदंडों वाली दृष्टि का प्रयोग किया जाता है।

नये दलित सिनेमा के निर्माण के दूरगामी परिणाम होंगे। शायद जैसे ही जैसे दलित साहित्य के प्रकाशन के बाद देखने को मिले थे। दलित साहित्य की दो किस्में पाई जाती हैं- 'सामान्य' और 'लोकप्रिय'। सामान्य दलित साहित्य बड़े प्रकाशकों के यहां प्रकाशित होता है जबकि लोकप्रिय साहित्य के प्रकाशक छोटे व्यवसायी और वितरक छोटे पुस्तक विक्रेता हैं। लोकप्रिय साहित्य सस्ते अखबारी कागज़ में छापा जाता है, इसलिए उसकी कीमत भी कम है। ऐसे साहित्य को लाखों दलित परिवारों में बड़े चाव से पढ़ा जाता है। शिल्प में अनगढ़ और प्रकाशन की दृष्टि से साधारण गुणवत्ता वाले इस साहित्य (मूलवंश कथा, छत्रपति शाहूजी महाराज, कूर्मी समाज अतीत से 'आज तक, अछूत वीरगंगा, शंबूक लीला) की अन्य विशेषता है कि उसमें इतिहास, मिथक और स्मृति के बीच किसी प्रकार का तनाव नहीं दिखता। दलित लोक साहित्य का प्रकाशन वितरण, अंतर्वस्तु और शिल्प नये दलित सिनेमा के लिए अनुभव का नवीन क्षेत्र साबित हो सकता है दलित लोक साहित्य की तरह ही नये दलित सिनेमा को दर्शकों के बीच जगह बनानी होगी। इसलिए दलित लोक साहित्य की भांति उसे निर्माण और वितरण के वैकल्पिक तरीके अपनाने पड़ेंगे। मुझे एहसास है कि साहित्य और सिनेमा की उपरोक्त तुलना कुछ असहज सी हैं। मसलन, सिनेमा एक खर्चीली कला विधा है। वह समष्टि द्वारा समष्टि के लिए है। जबकि साहित्य वैयक्तिक अभिव्यक्ति का नाम है और उसका उत्पादन कम खर्चीला है, वगैरह। फिर भी साहित्य और सिनेमा के सामाजिक लक्ष्य समान हैं। अर्थात् अधिक से अधिक पाठकों, दर्शकों द्वारा पढ़ा देखा जाना। मैं इस बात के प्रति भी सजग हूं कि नये दलित सिनेमा को दर्शक बना बनाया

नहीं मिलेगा-उसे बनाना पड़ेगा। शुरू में दलित साहित्य को भी इसी दिक्कत का सामना करना पड़ा था। मेरी पुर उम्मीदी का एक ठोस कारण है। यह है फिल्म निर्माण के क्षेत्र में अपेक्षाकृत सस्ती प्रौद्योगिकी का आविष्कार। मेरा इशारा डी.वी.डी. प्रौद्योगिकी की ओर है। डी.वी.डी. उस मिथक को तोड़ती है जिसमें कहा जाता है कि फिल्म निर्माण करोड़ों की लागत से हो सकता है। आज डी.वी.डी. फॉरमेट को विश्व भर में लोकप्रियता इसलिए मिल रही है कि सस्ती होने के साथ उसे जरूरत पड़ने पर 35 मिमि में हस्तांतरित किया जा सकता है। शायद यही कारण है कि भूमिगत सिनेमा तथा प्रयोगवादी सिनेमा से जुड़े कई फिल्मकारों की पहली पसंद डी.वी.डी. है। डी.वी.डी. है। डी.वी.डी. के सफल पदार्पण के बाद लगता है कि वह दिन दूर नहीं जब इससे भी सस्ती निर्माण की प्रौद्योगिकी फिल्मकारों को उपलब्ध हो सकेगी। तब नये दलित सिनेमा के निर्माण का लक्ष्य पूरा करना सहज हो जाएगा।

यदि उपनिवेशीकरण ने जातिगत विषमताओं को पहले से अधिक विकृत बनाया तो वि-उपनिवेशीकरण का प्रमुख उद्देश्य जाति व्यवस्था का पूर्ण विनाश होना चाहिए था। मगर ऐसा न हो सका। स्वतंत्र भारत के शासकों ने आधुनिकता का अस्पष्ट और अंतर्विरोधपूर्ण एजेंडा प्रस्तुत किया। इसमें आधुनिकता के दो प्रमुख बिंदुओं-जाति और संप्रदाय से तफतीश नहीं की गयी। मार्क्सवादी चिंतन भी दोनों की सकारात्मक व्याख्या नहीं कर सका। फलस्वरूप विगत शताब्दी के अंत होते होते आधुनिकता की केवल दो व्याख्यायें प्रभावी रह गयी। प्रथम वह जो आधुनिकता को पाश्चात्य विकृति मानकर नकारती है और उसके बरक्स परंपरा और हिंदू राष्ट्र को खड़ा करती है, द्वितीय वह जो वैश्वीकरण के संदर्भ में आधुनिकता को उपभोग से जोड़ती है। स्वतंत्रता मिलने के प्रारंभिक वर्षों में तर्क और विज्ञान की धुरी पर खड़ी जिस आधुनिकता के विकास की झलक मिली थी पूंजीवाद और बाज़ार के विस्तार के साथ उसका असमय क्षरण हो गया। फलस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर काल में ऐसी कोई 'सांस्कृतिक राजनीति' पल्लवित नहीं हो सकी जो जाति और जेंडर के स्तरों पर चल रहे विभेद और अलगाव को चुनौती दे सके। इस माहौल में संस्कृति के विराट क्षेत्र पर प्रभावी समुदायों का कब्जा होना, स्वाभाविक हो गया। बिंबों के साथ खिलवाड़ होने लगा और राजनीति में जड़वाद सबल हुआ। इस जड़वाद को तोड़ने और आधुनिकता की सच्ची प्रस्तुति में नये दलित सिनेमा की सार्थक भूमिका हो सकती है तेजी से बदलते विश्व में शायद इससे बेहतर मौका फिर न मिल सके। यदि हम इसे गंवा देते हैं तो सिनेमा में दलितों का चित्रण पूर्ववत होता रहेगा-विकृत और अपवाद स्वरूप।

इतिहास बोध से साभार

## प्राचीन भारत में श्रमजीवी महिलाएं

■ अनिल त्यागी

इस लेख में हम चंद्रगुप्त मौर्य के गुरु कौटिल्य की प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में वर्णित श्रमजीवी महिलाओं की दशा प्रस्तुत करेंगे। अर्थशास्त्र मुख्यतः उत्तर भारत की स्थिति प्रतिबिंबित करता है फिर भी कमोबेश वे स्थितियां पूरे भारत में रही होंगी। इस ग्रंथ से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का आर्थिक-सामाजिक जीवन पर भी कठोर नियंत्रण था। श्रमजीवियों के संबंधों और सामाजिक गतिविधियों पर राज्य का कड़ा नियंत्रण था। यहां हम मुख्य रूप से मेहनत करके आजीविका कमाने वाली स्त्रियों का ही जिक्र करेंगे।

अर्थशास्त्र के अनुसार अभिनेता, खिलाड़ी, गायक, मछुआरा, शिकारी, पशु पालक और ऐसे ही अन्य लोग साधारणतया अपनी औरतों के साथ काम पर जाते थे। उच्च वर्ग की महिलाओं के साथ ऐसी बात नहीं थी। उनका आर्थिक कार्यकलाप से किसी प्रकार का संबंध नहीं था और वे अपने पति पर अधिक आश्रित थीं। उनका कार्य क्षेत्र केवल घर तक सीमित रहता था। किंतु निम्न वर्णों की स्त्रियां उत्पादन के कार्यों में सदैव लगी रहती थीं। वे इसलिए घर से बाहर जाती थीं कि उन्हें अपने परिवार के गुजारे के लिए खेतों और चारागाहों में काम करना पड़ता था। कौटिल्य ने नियम बनाया कि बटाईदारों और पशुपालकों की स्त्रियों पर अपने पति द्वारा लिये गए ऋण की अदायगी का दायित्व रहेगा।

अर्थशास्त्र में नौ प्रकार से दास-दासी प्राप्त करने का विधान दिया गया है। दासता वाले अध्याय के आलोचनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि दासता के दो स्तर थे :- (1) आजीवन दासता में नियुक्त स्त्री-पुरुष तथा (2) नियत समय के लिए दासता में नियुक्त स्त्री-पुरुष।

अर्थशास्त्र में सुझाव दिया गया है कि वेश्याएं, दासियां, वृद्ध महिलाएं जो अपने मालिक के मनोरंजन के लिए अयोग्य हो जाती हैं, उन्हें भंडार घर तथा रसोई में नियुक्त करना चाहिए। दासियां अपने मालिक के गृह में सब प्रकार के कार्य करती थीं। वे खाना पकाने, चावल साफ करने, गृह कार्य के लिए जल लाने, गृह की सफाई करने तथा अपने मालिक व उसके परिवार के सदस्यों को स्नान आदि में मदद देती थी। उन्हें राजकीय अन्तःपुरी तथा साधारण घरों में काम करते हुए दिखलाया गया है।

घरेलू कामों के अतिरिक्त दासियां बड़े पैमाने पर कृषि कार्य में काम करती होंगी। अर्थशास्त्र में सुझाव दिया गया है कि दासों को यथेष्ट मात्रा में कृषि उत्पादन कार्य में लगाया जाना चाहिए। इससे यह संभावना बनती है कि दासियां अपने पतियों (दासों) को कृषि उत्पादन में सहायता देती होंगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में दासियों से वेश्या कर्म भी

कराया जाता था। अर्थशास्त्र में शिक्षकों से दासियों तथा गणिकाओं को साथ-साथ संगीत, नृत्य, गीत, अभिनय, लिखाई, पढ़ाई, चित्रकारी, मालिश करने तथा इत्र छिड़कने आदि की शिक्षा लेते हुए दिखलाया गया है। सुझाव दिया गया है कि दासियों को राजा के अन्तःपुर में या धनी परिवारों में स्नान कक्ष, शयन कक्ष, फूलों की माला बनाना, पानी लाने तथा मालिश करने के काम में नियुक्त करना चाहिए। वे राजा को फूल, जल, सुगंध, वस्त्र, आभूषण, माला तथा सुगंधित पाउडर देने का कार्य करती थीं। वे वस्तुएं पहले दासियों तथा नौकरों के वक्षःस्थल, आंखों तथा हाथों से छुआई जाती थीं, ताकि राजा के जीवन को कोई संभावित खतरा हो, तो उससे उसकी रक्षा हो सके।

अर्थशास्त्र में दासियों के बीच दाईयों का उल्लेख है। दाईयां अपने मालिक तथा उसके परिवार के सदस्यों (विशेषतः छोटे बच्चों) की देखभाल का कार्य करती थीं वे मालिक तथा उसके परिवार के सदस्यों को स्नान में सहायता करती थीं। लेकिन यदि मालिक दाई के साथ बलात्कार करता था, तो न केवल उसका क्रय मूल्य जप्त हो जाता था, बल्कि उसे प्रथम कोटि का दंड भी दिया जाता था।

बंधक रखे गए लोगों के संबंध में अर्थशास्त्र में कई उदार नियम बनाये गये हैं। सुझाव दिया गया है कि जो दास या दासी आठ वर्ष से कम उम्र की हों और संगे संबंधी विहीन हों, उसे हीन व्यवसायों में नहीं लगाना चाहिए और न ही उसे विदेश में बेचना या बंधक रखना चाहिए और न ही उसे विदेश में बेचना या बंधक रखना चाहिए। लेकिन यह नियम म्लेच्छों तथा जनता के लोगों पर नहीं लागू होते थे।

यह विधान बनाया गया था कि बंधक रखी गयी किसी महिला का मालिक नंगा होकर स्नान करते समय उसे किसी कार्य के लिए अपने पास बुलाएगा अथवा उस महिला का शील हरण करेगा या गाली देगा अथवा मारे-पीटेगा तो वह ऐसी महिला का बंधक मूल्य पाने का हकदार नहीं रह जाएगा और महिला स्वतः मुक्त हो जाएगी। बंधक रखी गयी किसी युवती पर बलात्कार करने की दशा में उसके मालिक का न केवल क्रयमूल्य जप्त हो जाएगा बल्कि वह युवती को कुछ रकम शुल्क के रूप में और शुल्क की दुगुनी राशि सरकार को चुकाएगा। यदि पारिचारिका के रूप में बंधक रखी गयी दासी के साथ उसका मालिक समागम करे तो उसे प्रथम कोटि का दंड दिया जाएगा। यदि मालिक द्वारा पारिचारिका के पुत्र संतान उत्पन्न होगी तो पारिचारिका अपने पुत्र, माता, बहनों तथा भाइयों के साथ दासता से विमुक्त हो जाएगी। यदि ऐसी कोई मां अपने परिवार के भरण-पोषण के विचार से दासी बने रहने का निश्चय करे तो उसकी माता, बहन तथा भाई को मुक्त कर दिया जाएगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अर्थशास्त्र के उदार नियम अधिकांशतया बंधक रखे गये दास दासियों और भूतपूर्व आर्य दास दासियों पर लागू होते थे, जिनकी संख्या निश्चित ही कम रही होगी। उनमें से कुछ ही नियम सामान्य दास दासियों की बड़ी संख्या पर लागू होते थे। इस तथ्य पर ध्यान न देने के कारण यह गलत निष्कर्ष निकाला गया है कि कौटिल्य से विधान परोक्ष रूप से दासता का उन्मूलन करते हैं अथवा उनकी नीति ऐसी है कि उनका देश स्वतंत्र व्यक्तियों का देश बन जाए। उनके उदार नियम से मुख्यतया यह जान पड़ता है कि वे आर्यतर या शूद्र दास-दासियों की अपेक्षा भूतपूर्व आर्य दास-दासियों की स्थिति बचाने के लिए चिंतित थे।

श्रम-जीवी महिलाओं को बड़े पैमाने पर जासूसी के काम में नियोजित किया जाता था। अर्थशास्त्र में सुझाव दिया गया है कि अन्य लोगों के साथ-साथ शूद्र महिलाओं, ब्राह्मण विधवाओं, दासियों, भिक्षुणियों, शिल्पकार स्त्रियों तथा वेश्याओं को घुमक्कड़ जासूस के रूप में नियुक्त करना चाहिए। यह भी कहा गया है कि जो स्नान के लिए पानी लाने वाली, मालिश करने वाली, शय्याकार, पानी भरने वाली, सेवक, कलाकार, नर्तक-नर्तकी तथा गायक-गायिका के रूप में नियोजित हैं, उन्हें राजा के अधिकारियों के व्यक्तिगत चरित्र पर नज़र रखनी चाहिए। अन्तःपुर के अधिकारियों की गतिविधियों पर नज़र रखने के लिए दासियों, हिजड़ों, नौकरों तथा वेश्याओं को नियुक्त किया जाता था।

गुप्तचर उन लोगों में घुलमिल जाते थे जिन पर जासूसी करनी होती थी और व्यवसाय के सदस्यों से इतना घनिष्ठ संबंध पैदा कर लेते थे ताकि वे मामले की तह तक पहुंच सके। शराबखानों में वेश्याएं विभिन्न स्तरों के लोगों पर जासूसी करती थीं। वे उन्हें शराब पिलाकर उनके गुप्त भेदों की जानकारी प्राप्त करती तथा उसकी सूचना अपने मालिक को देती थीं। गुप्तचर व्यवस्था का प्रयोग अपराधों का पता लगाने में ही नहीं अपितु देश में लोकमत जानने के लिए भी किया जाता था।

राजा के निजी सेवकों में स्त्रियां भी होती थीं। 'अर्थशास्त्र' में इसकी पुष्टि होती है, जहां राजा को सशस्त्र स्त्रियों को अंगरक्षक रखने का परामर्श दिया गया है। संभवतः राजा की शिकार की मुहिम काफी विस्तृत होती थी। इस अवसर पर भी राजा के चारों ओर सशस्त्र स्त्रियां होती थीं। इस सावधानी का कारण यह हो सकता है कि पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र होने के कारण किसी प्रलोभन में आकर राजा के विरुद्ध हो सकते थे। इसके विपरीत स्त्रियां अपने सामाजिक कमजोर व निम्न स्थान के कारण राजा की सेवा करना एक सम्मान समझेंगी और इसलिए इस काम में अधिक सावधानी बरतेंगी।

राज्य की ओर से वेश्या कर्म पर कोई रोक नहीं थी अपितु उसे प्रोत्साहन दिया जाता था। राजा के अन्तःपुर में उसकी पत्नियों के साथ-साथ वेश्याएं भी रहती थीं जिनके अपने-अपने अनुचर तथा नौकर होते थे। 'गणिकाध्यक्ष' को नगर की वेश्याओं के कार्यकलाप की देखरेख के लिए नियुक्त किया जाता था। वह उनकी फीस, विवादों, शिकायतों तथा उत्तराधिकार संबंधी प्रश्नों को हल करता था। अर्थशास्त्र में सुझाव दिया गया है कि गणिकाध्यक्ष को वेश्या की

आमदनी, तोहफे, लाभ तथा खर्च का लेखा-जोखा रखना चाहिए तथा उसके फालतू खर्च पर प्रतिबंध लगाना चाहिए। वेश्या गणिकाध्यक्ष को उसके पास आने वाले ग्राहक की सूचना देती थी। अतः स्पष्ट है कि गणिकाओं की श्रेणियों पर राज्य का कठोर नियंत्रण था।

अर्थशास्त्र में सुझाव दिया गया है कि वेश्या को उसके सौंदर्य तथा शरीर की बनावट के अनुरूप फीस देनी चाहिए। यदि वेश्या फीस वसूल करने के बाद ग्राहक के साथ संभोग न करे तो उससे फीस से दुगुना मूल्य वसूल करना चाहिए। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि यदि कोई आदमी वेश्या की इच्छा के विरुद्ध उसे अपने नियंत्रण में रखता है या उसके भाग जाने में सहायता देता है या आघात द्वारा उसे कुरूप बनाता है तो उस पर 1000 पर का जुर्माना होगा या वेश्या की स्थिति के अनुरूप जुर्माना उसके कुल मूल्य से दुगुना होगा। यदि कोई आदमी वेश्या की हत्या का कारण बनता है तो उस पर जुर्माना कुल मूल्य से तीन गुणा अधिक होना चाहिए। यह भी सुझाव दिया गया है कि सौंदर्य पर जीवन निर्वाह करने वाली माता, कन्या तथा दासी की हत्या करने पर प्रथम कोटि का दंड दिया जाना चाहिए यदि कोई वेश्या किसी ग्राहक की हत्या कर देती है तो उसे ग्राहक की जलती हुई चिता में जिंदा जला देना चाहिए या जल में डुबो देना चाहिए।

राज्य वेश्याओं से नियमित रूप से कर वसूल करता था, अर्थशास्त्र में कहा गया है कि हर वेश्या (रूपजीवा) को हर महीने अपने दो दिन की आमदनी राज्य को देनी चाहिए।

उपर्युक्त विश्लेषण बताता है कि अर्थशास्त्र में वेश्याओं की गतिविधियों पर राज्य का कठोर नियंत्रण का विधान था। विभिन्न स्तर की महिलाओं और कन्याओं को इस काम में नियुक्त किया जाता था। उनके स्तर (वर्ण) को ध्यान में रखकर ही उनकी स्थिति का मूल्यांकन होता था। उससे जासूसी का काम भी करवाया जाता था। जो वेश्याएं मनोरंजन के काबिल नहीं रहती थीं, उन्हें रसोई या बुनाई के काम में नियोजित किया जाता था। साफ जाहिर है कि नारी की अधोगति शुरू हो गयी थी। वेश्या-वृत्ति एक संगठित पेशा बन चुकी थी जिसे राज्य का संरक्षण और प्रोत्साहन मिलता था।

कपड़ा बुनने के व्यवसाय में स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। वस्तुतः 'अर्थशास्त्र' में सुझाव है कि बुनाई अधीक्षक हर आयु की स्त्री को इस काम के लिए नियुक्त कर सकता है। परंतु इस व्यवसाय में विशेष रूप से अपंग स्त्रियों, विधवाओं, परिव्राजिका स्त्रियों, बड़ी आयु की वेश्याओं, जुर्माना न पाने वाली स्त्रियों, राजा की वृद्ध दासी तथा मंदिर की सेवा से विमुक्त देवदासी को नियोजित किया जाता था। इन श्रेणियों से बाहर विवाहित कुंवारी कन्या अपनी इच्छानुसार यह काम घर पर करेगी। अर्थशास्त्र में यह भी कहा गया है कि जिन स्त्रियों के पति विदेश गये हुए हैं, उन्हें भी इस काम में नियुक्त करना चाहिए। ये महिलाएं राजकीय कारखानों तथा अपने घरों पर बुनाई का कार्य करती थीं, सुझाव दिया गया है कि जहां तक संभव हो सूत लाने व बुना हुआ माल देने का कार्य नौकरानी को करना चाहिए। ऐसा संभव न होने पर स्त्री सीधे-सीधे अधीक्षक से मिल सकती है, परंतु कार्यालय में उस समय जाना चाहिए जब प्रकाश धीमा हो ताकि



प्रबंधक उसे ठीक ढंग से देख न सके और उसे केवल काम के बारे में बात करनी चाहिए। कौटिल्य ने नियम बनाया है कि यदि कोई आदमी बुरी नीयत से बुनकर महिला के चेहरे की ओर देखेगा या उससे बातचीत करेगा, तो उसे प्रथम कोटि का दंड दिया जाना चाहिए। बुनकर महिला व कन्या के चरित्र को दूषित करने पर भी कठोर दंड का विधान था।

ये महिलाएं वेतन पर कारखानों तथा अपने घरों में बुनाई का काम करती थीं, अर्थशास्त्र में कहा गया है कि यदि बुनाई अधीक्षक बुनकर महिला को काम पूरा होने पर भी वेतन देने में विलंब करता है तो उसे दंड दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार यदि बुनकर महिला वेतन लेने के बाद कार्य को पूरा नहीं करती है तो उसका अंगूठा काट लेना चाहिए। यदि बुनकर महिला धागे (तंतु) का दुरुपयोग करती है तो उसका वेतन कम हुए कपड़े के अनुरूप काट लेना चाहिए।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि समाज में विभिन्न स्तर की महिलाएं बुनाई का कार्य करती थीं। कारखानों में बुनाई का काम करने वाली महिलायें संभवतः शूद्र परिवारों से आती होंगी, क्योंकि उन्हें अपने परिवार के गुजारे के लिए खेतों, चारागाहों तथा कारखानों में काम करना पड़ता था। इसके प्रतिकूल घरों पर बुनाई का काम उच्च वर्णों (ब्राह्मण-क्षत्रिय) की स्त्रियां करती होंगी, चूंकि उनका कार्यक्षेत्र घरों तक सीमित था। उन्होंने बुनाई का व्यवसाय प्रतिकूल परिस्थितियों (विधवा होने पर, पति के विदेश जाने पर या आमदनी का अन्य स्रोत न होने पर) में ही अपनाया होगा। जहां तक अर्थशास्त्र के उदार नियमों का संबंध है वे अधिकांशतः उन आर्य महिलाओं की स्थिति को सुरक्षित करने के लिए बनाये गये होंगे जो संकटपूर्ण परिस्थितियों के कारण अपनी जीविका स्वयं चलाती थीं। जिनकी संख्या निश्चय ही कम रही होगी। उनमें से कुछ ही नियम शूद्र तथा आर्यतर महिलाओं की बड़ी संख्या पर लागू होते थे। इन तथ्यों पर ध्यान न देने के कारण ये गलत निष्कर्ष निकाले गये हैं कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आधुनिक जनतंत्र के कल्याणकारी राज्य के विचार या राज्य समाजवाद के उन आधुनिक तत्वों की झलक पायी जाती है जिनका विकास जर्मनी में बिस्मार्क के सामाजिक विधान द्वारा हुआ था।

श्रमजीवी महिलाओं को उनके काम के बदले में वेतन दिया जाता था। उनके वेतन की दर उतनी ही होती थी जितनी उस व्यवसाय में लगे श्रमजीवी पुरुषों की। अर्थशास्त्र में सुझाव दिया गया है कि सेवन्ते (स्त्री-पुरुष सेवक) को वादे के अनुसार मजूरी दी जानी चाहिए। किंतु वादे के अभाव में मजूरी का भुगतान उस स्थान की मान्यता प्राप्त प्राचीन परंपराओं के आधार पर होना चाहिए। या फिर काम की किस्म और उसमें लगने वाले समय को ध्यान में रखकर नियत की जानी चाहिए। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि शिल्पियों, संगीतज्ञों, चिकित्सकों, रसोईयों और अन्य कामगारों को उतनी ही मजूरी मिलेगी जितनी अन्यत्र काम में लगे इसी प्रकार के लोगों को मिलती है अथवा जितनी विशेषज्ञ नियत करें। जिन श्रमजीवियों की मजूरी का निर्णय पहले नहीं किया गया हो उन्हें 1/10 की दर से मजूरी दी जाती थी जैसे कृषक (अर्थात् कृषि मजदूर) को उपज का 1/10 भाग तथा

पशुपालक को मक्खन का 1/10 भाग मिलना चाहिए। राजा की भूमि में उपजाई गई फसल का 1/4 भाग या 1/5 भाग पाने के हकदार चटाई कृषि मजदूर और फसल का 1/10 भाग पाने वाले सामान्य कृषि मजदूर में विभेद किया गया है।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि बटाईदारी पशुपालकों तथा संगीतज्ञों की स्त्रियां अपने पतियों के साथ उत्पादन कर्म में हिस्सा लेती थीं। रसोई के कार्य में महिलाओं को यथेष्ट भाग में नियोजित किया जाता था। कामगारों की स्त्रियां अपने परिवार के गुजारे के लिए अपने पतियों के साथ खेती तथा चारागाहों में काम करती थीं। अतः संभव है कि बटाईदारों, पशुपालकों, संगीतों तथा कामगारों को जो मजूरी मिलती थी वह उनका तथा उनकी औरतों के परिश्रम का फल होती होगी। रसोईयों के रूप में काम करने वाले स्त्री पुरुषों के वेतन का निर्धारण समान मान्यताओं के आधार पर होता होगा। बुनकर महिलाओं को वेतन बुने हुए कपड़े की मात्रा व उसकी बढ़िया, घटिया या दरमियानी किस्म के हिसाब से मिलता था। छुट्टियों में किये गए काम पर अलग से पैसे या इनाम मिलता था।

समाज में सबसे कम भुगतान स्त्री-पुरुष श्रम जीवियों को किया जाता था। अर्थशास्त्र में सुझाव दिया गया है कि राज्य के सेवा करने वाले दास-दासियों और कर्मकर स्त्री-पुरुषों को अपने निर्वाह के लिए भंडार के अधीक्षक से खुद्दी मिलनी चाहिए। इन्हें देने के बाद जितनी खुद्दी बच जाए वह रोटी पकाने वाले रसोईयों को दी जाए। संभव है कि ये रसोईयों दास-दासी रहे हों क्योंकि मौर्यपूर्व काल में इन्हें रसोई के काम में लगाया जाता था। विकृत मदिरा दास-दासियों तथा कर्मकर स्त्री-पुरुषों को मजूरी के रूप में दी जाती थी।

वेतन नगदी तथा वस्तु विनिमय दोनों ही रूपों में दिया जाता था। एक स्थान पर कौटिल्य ने बताया है कि कृषि मजदूरों को 1/4 पण तथा पर्याप्त अनाज वेतन के रूप में चाहिए। पण निश्चय ही चांदा की रहा होगा। आर.एस. शर्मा का विचार है कि श्रमजीवियों की दैनिक मजूरी 3/9 पण से लेकर 2 2/5 पण तक थी। उच्च अधिकारियों तथा निम्न वर्ग के श्रमजीवी स्त्री-पुरुषों के वेतन में पर्याप्त अंतर दिखाया गया है। उच्च अधिकारियों को जहां 48 हजार, चौबीस हजार, बारह हजार या आठ हजार पण देने की बात कही गयी है, वहीं दूसरी ओर प्रभारी सेवकों, विविध कार्य कराने वाले कामगारों, राजपुरुषों के अनुचरों, अंगरक्षकों और स्वतंत्र मजदूरों को जुटाने के लिए अल्पतम वेतन 60 पण की सिफारिश की गयी है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि यह भुगतान मासिक उधार पर किया जाता था तो सामान्य श्रमजीवी के लिए इसकी दर प्रतिदिन 2 पण होती है। किंतु ऐसे भी श्रमजीवी स्त्री पुरुष थे जिन्हें केवल 18 पण की मासिक मजूरी दी जाती थी।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो गया होगा कि प्राचीन काल में नारियों की समान स्थिति की बात एकदम गलत है। जो कुछ सम्मान रहा भी होगा केवल शासक समुदाय की स्त्रियों का। सामान्य नारी पुरुषों की ही तरह त्रस्त, पीड़ित और उत्पीड़ित थी और इस कार्य में राज्य का पूरा तंत्र मदद करता था-बहुत कुछ आज की ही तरह।

इतिहास बोध से साभार

### जीएम फसलों का सच

■ नरसिंह दयाल

विज्ञान और प्रगति के नाम पर पिछड़े देशों और जनता के साथ किये जा रहे छलों को उजागर करने में प्रो. दयाल अग्रणी हैं इस संदर्भ में उनका यह लेख आंख खोलने वाला है

जीनांतरित या जीएम (जेनेटिकली मोडिफाइड) फसलें इस सदी में कृषि जैव प्रौद्योगिकी (एग्रोबायो टेक्नोलॉजी) द्वारा मानवता को दिया गया नया तोहफा है। किसी भी फसल की उन्नत और स्वास्थ्यवर्धक किस्में आज इस विज्ञान द्वारा आसानी से विकसित की जा सकती हैं। अब तक विकसित और औद्योगिक देशों के जीन इंजीनियरों ने सैंकड़ों जीएम फसलों का निर्माण कर लिया है। उपयोगी जीनों (वंशाणुओं) का किसी भी जीव से लेकर किसी भी दूसरे जीव में जीनियोगरी द्वारा प्रतिरोपित किया जा सकता है। इस तकनीक का शुभारंभ पिछली सदी के सातवें दशक में हुआ था। अब तो इसने एक उद्योग का रूप ले लिया है। जीएम फसलों की खेती को जैव कृषि कहा जाता है।

जैवकृषि से भारत सहित दुनिया के विकासशील और अल्पविकसित देशों की गरीबी और भूख का सफाया हो जाएगा, ऐसी इस तकनीक के प्रवर्तक, बायोटेक कंपनियां और उनके विज्ञानियों का कहना है। जैव कृषि ही भूख के उन्मूलन का सबसे कारगर उपाय है, अतः इसे बढ़ावा देना और अपनाना विकासशील देशों के हित में ही है। भारत में बीटी कपास की खेती को अनुमति मार्च 2000 में दी गयी है और 9 अन्य जीएम फसलें अनुमति की बाट जोह रही हैं। निकट भविष्य में हमारे खेतों में जीएम फसलें ही लहलहाएंगी।

जीएम फसलों के नियमन, संचालन और प्रोत्साहन पर दुनिया में अरबों डॉलर खर्च किये जा रहे हैं। यूरोपीय संघ ने पिछले 15 वर्षों में जीएम खाद्यों के अध्ययन पर 32.5 डालर खर्च किया है। अभी तक अमरीका, यूरोप, जापान, चीन आस्ट्रिया और अर्जेंटीना द्वारा इनकी जांच-परख और नियमन पर करीब दस हजार डालर खर्च किये जा चुके हैं। हमारे देश में जीएम फसलों के अनुसंधान पर 60 करोड़ रुपये खर्च किये जा रहे हैं। इसके अलावा

भारत सरकार का जैव प्रौद्योगिकी विभाग इनके नियमन पर अलग से 30 करोड़ रुपये खर्च करेगा। 'बायोएक्टिव इंडिया' की योजना बनायी जा रही है। कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और गुजरात जैसे विकसित राज्य जैव प्रौद्योगिकी की वकालत और प्रोत्साहन में विशेष रुचि ले रहे हैं। हैदराबाद की 'जीनोमवैली' तो लखनऊ को 'बायोटेक सिटी' बनाया जाएगा। इसी प्रकार उत्तरांचल को बायोटेक वैली, छत्तीसगढ़ को 'बायोटेक स्टेट' और झारखंड को 'हरबल स्टेट' कहा जाएगा। भारत का भविष्य जैव प्रौद्योगिकी द्वारा ही सुनहरा बनाया जा सकता है। अतः इसके विकास के लिए बायोटेक उद्योग को प्रोत्साहित किया जा रहा है। इसके लिए विकसित राज्यों की सरकारें इन्हें विशेष आर्थिक अनुदान (सब्सिडी) देने जा रही हैं। उद्योग की सब्सिडी और सुविधाएं देने के लिए इन राज्यों के बीच एक होड़ सी मची है।

लेकिन जीएम फसलों का सच क्या है? क्या सचमुच ये सुरक्षित और स्वास्थ्यकर हैं? जैव कृषि के प्रति इनकी व्याकुलता और तत्परता क्यों? क्या इनके अनुसंधान, नियमन, संचालन और प्रोत्साहन पर गरीब जनता की गाढ़ी कमाई के इतने पैसे खर्च किये जाएं? इन्हें विकसित करने में लागत और लाभ का अनुपात क्या है? इनमें आखिर कौन-सी ऐसी विशेषता है जो परंपरागत पौध प्रजनन द्वारा विकसित फसलों में नहीं? क्या जीएम तकनीक हमारे किसानों और उपभोक्ता के लिए प्रासंगिक है? हमारे पर्यावरण और समृद्ध जैव विविधता पर इसका तात्कालिक और दूरगामी प्रभाव क्या होगा? ये कुछ ऐसे संगीन प्रश्न हैं जिनका उत्तर ढूंढना आज बहुत ज़रूरी हो गया है क्योंकि ये हमारे अस्तित्व से जुड़े हुए हैं।

अभी तक भारत में इकलौते बहुप्रचारित कपास, बीटी कपास की खेती को अनुमति दी गयी है। इसे अमरीका के बहुराष्ट्रीय बायोटेक कंपनी मोसांटो ने 'निर्मित' किया है। इसमें जीनियोगरी द्वारा एक जीवाणु (बैसिलस क्षुरजिएंसिस) से जीन लेकर प्रतिरोपित किया गया है। इस जीन की कृपा से कपास के पौधों में सूंडी कीड़ों का

प्रकोप नहीं होता और कीटाशक रसायनों के कम प्रयोग से कपास की उपज काफी बढ़ जाती है जिससे किसानों को बहुत लाभ होता है। भारत में बीटी कपास का बीज महाराष्ट्र हाइब्रिड कंपनी, महिको मोसांटो के सहयोग से उपलब्ध कराती है। सरकार द्वारा अनुमति प्राप्त के बाद इसकी खेती आंध्र प्रदेश सहित कई राज्यों में की गयी। बीज काफी महंगा होने के बावजूद महिको-मोसांटो और सरकार का दावा था कि किसानों को बहुत लाभ होगा।

लेकिन हुआ क्या? पहले साल में ही इसकी खेती टांग-टांग फिस्स हो गयी। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार गैर बीटी कपास की तुलना में बीटी कपास की खेती से किसानों को बहुत ही कम लाभ हुआ। बड़ी हाय-तौबा मची। किसानों द्वारा उग्र प्रदर्शन विरोध होने लगे और वे हज़ारों की संख्या में सामूहिक आत्महत्याएं करने लगे। किसान एक जैविक महाजाल में फंस चुके थे। एक संसदीय समिति का गठन हुआ जिसने पाया कि यह भयानक वैज्ञानिक भूल थी और किसानों को छला गया है। लेकिन कपास किसानों को क्षति के लिए न कोई आर्थिक मदद मिली, न ही अधिकारियों और कंपनियों को कोई सजा।

चीन में बीटी कपास की स्थिति पर गहन वैज्ञानिक अध्ययन के बाद सरकारी रिपोर्ट, जिसका कुछ अंश 2003 में प्रतिष्ठित शोध पत्रिका 'साईंस' में छपा है, के अनुसार बीटी कपास की खेती के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है। इससे परितंत्र (इको सिस्टम) भी प्रभावित होता है। हां, बड़े कृषि-फार्मों में कीटाशक रसायनों के समुचित छिड़काव से अवश्य लाभ होता है फिर चीन ने स्वदेशी बीटी कपास विकसित कर लिया है जिससे मोसांटो का बीज बाजार वहां पर काफी घट गया है। इतना ही नहीं, गुजरात और कुछ अन्य राज्यों के बाज़ार नकली बीजों से पट गये हैं। हमारी अधिकांश बीज कंपनियां बहुराष्ट्रीय विदेशी कंपनियों को अपनी सेवा और सहायता (दलाली) मुहैया कराती हैं। इन्हें किसानों की जरूरत के बारे में कुछ नहीं मालूम लेकिन इन्हें अंधराजनैतिक समर्थन प्राप्त है।

कोशिका एवं आण्विक जीवविज्ञान केंद्र, हैदराबाद के पूर्व निदेशक पी.एम.भार्गव के अनुसार भारत में जीएम फसलों की गुणवत्ता के निर्धारण के लिए कोई भी विश्वसनीय, पारदर्शी, ठोस और भ्रष्टाचार रहित तकनीकी सम्पन्न संस्था नहीं है। इसके लिए उन्होंने एक राष्ट्रीय जैव प्रौद्योगिकी आयोग के गठन का सुझाव दिया था। बीटी कपास के मामले में, उनके अनुसार पारदर्शिता नहीं

बरती गयी और अनुमति देने की सारी प्रक्रिया परदे के पीछे हुई। किसानों को सार्वजनिक सूचना, जिसके वे अधिकारी थे, भी नहीं दी गयी। उन्हें यह जानने का पूरा अधिकार था कि महिको-मोसांटो को किस आधार पर इसके बीज विक्रय की अनुमति दी गयी। इसके पीछे कहीं राजनेताओं, बहुराष्ट्रीय कंपनियों, प्रशासनिक अधिकारियों और कतिपय कृषि वैज्ञानिकों की मिलीभगत तो नहीं है?

भारत में बीटी कपास की विफलता एक हादसा है कपास किसानों के लिए। लेकिन बायोटेक उद्योग के क्षेत्रों और मित्रों की सोच अभी भी जीएम फसलों के पक्ष में ही है। बायोटेक कंपनियों को प्रोत्साहन और भूख उन्मूलन के नाम पर काफी आर्थिक अनुदान (उनके लिए 'सब्सिडी' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं होगा!) दिया जा रहा है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय अनुदान पर कृषि विज्ञानियों द्वारा 'भूख से युद्ध और जैव प्रौद्योगिकी के महत्व', 'जीएम फसलों का समुचित प्रबंधन' जैसे विषयों पर पांच सितारा होटलों में बड़े-बड़े सेमिनार आयोजित किये जा रहे हैं। एक आंकड़े के अनुसार करीब पौने दो करोड़ टन अतिरिक्त अनाज जो गरीबों के लिए था, रखरखाव की कुव्यवस्था के कारण निर्यात कर दिया गया। करीब छः करोड़ टन अतिरिक्त अनाज आज भी खुले आसमान के नीचे सड़ रहा है लेकिन इसकी सुध लेने वाला कोई नहीं है। अतिरिक्त अनाज की बरबादी और कुप्रबंधन पर कभी कोई सेमिनार आयोजित नहीं किया गया। लगता है जैव प्रौद्योगिकी के विकास के लिए राजनेताओं, बायोटेक कंपनियों, प्रशासनिक अधिकारियों और कृषि वैज्ञानिकों का एक गिरोह काम कर रहा है जो इस देश को बीज कंपनियों का चारागाह बना देना चाहता है। जैवकृषि की प्रशंसा में कसीदे पढ़े जा रहे हैं। सभी मिलकर भूख को भुनाने में व्यस्त हैं।

स्विस कंपनी 'सिजेंटा' भारत में अपने जीएम चावल जिसे 'सुनहरा चावल' (गोल्डन राइस) कहा जाता है, परोसना चाहती है। दावा किया गया है कि विटामिन 'ए' से यह चावल एशिया में उसकी कमी को दूर कर देगा। विशेषज्ञों के अनुसार 'सुनहरा चावल' एक व्यक्ति की विटामिन 'ए' की दैनिक जरूरत का एक शतांश भी पूरा नहीं करता। साग-सब्जियों, फल और शैवालों में विटामिन 'ए' की मात्रा बहुत अधिक है। फिर इनकी वकालत कोई क्यों नहीं करता है। इसी प्रकार जीएम पोटेटो, प्रोटैटो के बारे में कहा जाता है कि साधारण आलू की तुलना में

इसमें 40 प्रतिशत अधिक प्रोटीन है। अतः अविकसित और विकासशील देशों में व्याप्त प्रोटीन की कमी इससे दूर की जा सकेगी। स्कूली बच्चों के लिए इसे विशेष रूप से लाभदायक बताया गया है। हिसाब लगाकर देखें तो 30 ग्राम प्रोटीन प्रतिदिन की जरूरत को पूरा करने के लिए प्रत्येक छात्र को करीब दो किलोग्राम प्रोटीटो खिलाना होगा। गेहूं और दलहनों में प्रोटीन की मात्रा करीब 24-30 प्रतिशत तक होती है। फिर इन फसलों की अधिक उपज पर ध्यान क्यों नहीं दिया जाता इन प्रोटीन कुपोषण दूर करने वालों का? लेकिन नहीं, वे प्रोटीटो ही खिलाना चाहते हैं क्योंकि मुनाफा इसी में है।

वर्तमान विश्व व्यवस्था में जीएम फसलों के बारे में सच को छुपाया जा रहा है और झूठ, छल और पाखंड का सहारा लिया जा रहा है। विज्ञान इतना बेशर्म और निर्मम कभी नहीं हुआ था। जीएम फसलों और उत्पादों का प्रचार-प्रसार बड़े ताम-झाम के साथ किया जाता है। पचास साल पहले दुनिया से भूख मिटाने के लिए खेती में कीटनाशक रसायनों के प्रयोग के बारे में बड़ी प्यारी-प्यारी बातें कही जा रही थीं। अब ऐसी ही बातें जीएम फसलों के बारे में कही जा रही हैं और कीटनाशकों को पर्यावरण के लिए घातक बनाया जा रहा है। रासायनिक कीटनाशक तभी तक उपयोगी थे, जब तक रसायन उद्योगों को मुनाफा मिलता रहा। भविष्य में वैज्ञानिक क्षितिज पर नैनो तकनीक का उदय होगा तो इन्हीं के वंशज जैव प्रौद्योगिकी को वाहियात बताकर अपना पल्ला झाड़ने से नहीं झिझकेंगे।

इस युग की त्रासदी यह है कि उद्योगों ने विज्ञान को गुलाम बना लिया है और उसे झूठ बोलने के लिए बाध्य किया जाता है। अनुसंधान में तिकड़म भिड़ाई जाती है और ठोस प्रमाणों पर पर्दा डाल दिया जाता है। संयमित वैज्ञानिकी विरोध की आवाज को राजनीतिक दबाव द्वारा चुप करा दिया जाता है, को कल्याणकारी विज्ञान से बेहतर बताया जाता है। मिथ्यावर्णन, अनाचरण, बहानेबाजी और रिश्वत द्वारा अहितकर और खतरनाक टेक्नोलॉजी की भूख उन्मूलन के पुनीत अभिप्राय के नाम पर बढ़ावा दिया जाता है।

लेकिन आज तक दुनिया में सत्य से अधिक ताकतवर हथियार नहीं बना है। सत्य की स्वर्णिम किरणें झूठ के सात पर्दों को चीरकर भी बाहर निकलती हैं। यही इसकी श्रेष्ठता है। इस संबंध में यू.एन.ओ के पूर्व

महासचिव कोफी अन्नान की टिप्पणी काफी महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार, 95 प्रतिशत नया विज्ञान (जैव प्रौद्योगिकी) उन देशों में सृजित किया गया है जहां दुनिया की सिर्फ 20 प्रतिशत आबादी ही रहती है। इस विज्ञान का अधिकांश भाग दुनिया की अधिकांश आबादी की परवाह नहीं करता। आज दुनिया की 80 प्रतिशत आबादी को एक ऐसा विज्ञान अपनाने के लिए बाध्य किया जा रहा है जो उसके लिए नहीं बनाया गया है।

कहा जा रहा है कि 35 करोड़ अमरीकियों ने जो पिछले 15 वर्षों से जीएम उत्पादों का उपयोग कर रहे हैं, के स्वास्थ्य पर तो कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है। यह सच नहीं है और अधिकांश अमरीकी कई प्रकार की बीमारियों से परेशान हैं। बड़ी जहोजहद और लंबे मुकदमों के बाद वहां के खाद्य एवं औषधि प्रशासन (एफडीए) को जीएम उत्पादों से संबंधित आंतरिक संचिका का भेद खोलना पड़ा। संचिका में विज्ञानियों ने स्वीकार किया था कि जीएम उत्पाद असुरक्षित और अहितकर हैं जब तक कि उनका गहन विषपरीक्षण नहीं हो जाता। एफडीए को 'व्हाइट हाउस' के निर्देशानुसार जीएम उद्योगों को बढ़ावा देना था और वैज्ञानिकों से झूठ बोलने को कहा गया।

जीएम फसलों का सच धीरे-धीरे जग जाहिर होने लगा है। ब्रिटेन में 98 प्रतिशत लोगों ने जीएम उत्पादों को नकार दिया है। अध्ययन बताते हैं कि जीएम फसलों द्वारा जैव-विविधता को अप्रतिकार्य हानि होती है और परंपरागत फसलों का आनुवांशिक प्रदूषण होता है। वहां सब कुछ जानते हुए भी सरकार ने परीक्षण का ऐसा लक्ष्य रखा ताकि सच्चाई सामने नहीं आ पाए। यूरोपीय संघ ने भी जीएम उत्पादों का विरोध किया है। इसलिए अमरीका नाराज है कि यूरोपीय संघ जैवकृषि के विषय में नाहक ही रोड़े अटका रहा है ब्राजील और न्यूजीलैंड में इसके विरोध में उग्र प्रदर्शन हुए। अन्य कई देशों में विरोध के स्वर उठने लगे हैं। फलस्वरूप मोसांटो को यूरोप से बाहर होना पड़ रहा है और वहां उसकी दुकान बंद होने को है। इसलिए अब वह विकासशील देशों में अपनी दुकान खोलना चाहता है।

तो यह है जीएम फसलों का विश्व परिदृश्य। लेकिन हमारा भारत महान है और यहां सब चलता है पश्चिमी देशों की हर बेकार की चीजों, गोबर तक को भी, क्या हमने स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि इस अनावश्यक तकनीक पर कोई उंगली नहीं उठाता।

## इतिहास के दिलचस्प पन्ने

■ लुत्फुल्ला लन्दन में

(इतिहास में प्रायः पश्चिम से भारत आए यात्रियों का वर्णन मिलता है। कभी-कभी तो उनका यात्रा वृत्तान्त उस काल का इतिहास जानने का एक मूल्यवान या विवादास्पद स्रोत बन जाता है। लेकिन भारत से पश्चिम जाए यात्रियों के बारे में कम जानकारी मिलती है। इसका एक प्रमुख कारण यही रहा है कि परिस्थितिवश इस देश के लोग आत्मकेंद्रित होते गए और अपने परिवेश और दुनिया के प्रति अज्ञान और असहायता बढ़ती गयी। इसी के साथ बढ़ती गयी उनकी गुलामी। लुत्फुल्ला की आत्मकथा इतिहास का एक अनदेखा पन्ना है जो इस भ्रांति को तोड़ता है कि सामान्य भारतीय देश दुनिया को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने की शक्ति खो बैठे थे।)

लुत्फुल्ला का जन्म 1802 में मध्य भारत के गरीब सामंत परिवार में हुआ। उनका जीवन घटनाओं की गहमागहमी से भरपूर था। एक ऐसे परिश्रमी और दृढ-प्रतिज्ञ बालक लुत्फुल्ला की 'क्लैसिक' कहानी है जिसमें संघर्षरत बालक लुत्फुल्ला अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद बेहतर जीवन जीने की आकांक्षा से बराबर आगे बढ़ता रहा-जीवन के प्रति उसकी ऐसी विचारधारा और दृष्टिकोण पर यूरोपीय प्रभाव अधिक और पूर्वी प्रभाव कम था। लुत्फुल्ला जब चार वर्ष का था तभी उसके पिता की मृत्यु हो गयी। बालक लुत्फुल्ला और विधवा मां के संरक्षण का उत्तरदायित्व चाचा ने लिया। पांच वर्ष की आयु में बालक लुत्फुल्ला की शिक्षा प्रारंभ हुई। उसे स्कूल जाना अच्छा नहीं लगता था। अपने स्कूली दिनों में वह बहुत शरारती था। एक बार उसने एक बुड़े और 'बोर' किस्म के मौलवी की दाढ़ी में आग लगा दी और किसी दूसरे अवसर पर अपने शिक्षक को ऐसा तेज जुलाब पिला दिया कि वह मरते-मरते बचा। संक्षेप में लड़का लुत्फुल्ला अपने अभिभावकों के लिए एक समस्या था और उसकी तेज-तर्रार प्रवृत्ति पर नियंत्रण मुश्किल था।

जब निकट हितैषियों की राय पर विधवा मां ने दुबारा विवाह कर लिया तो बालक लुत्फुल्ला की अपने नये बाप के साथ नहीं बनी और वह उसे छोड़ कर भाग खड़े हुए। चाचा की देख-रेख में लुत्फुल्ला ने फारसी और उर्दू की कुछ आवश्यक शिक्षा प्राप्त की। बाद में उसने मराठी भी सीखी और स्वतः आठ वर्ष तक कठिन प्रयास

से अंग्रेजी भी सीख ली। विभिन्न भाषाओं का यही ज्ञान लुत्फुल्ला के भावी जीवन के लिए निर्णायक बना। इस समय ईस्ट इंडिया कंपनी पूरे भारतीय उपमहाद्वीप को अपने हाथों में समेटने में तत्पर थी। उसके यूरोपीय अफसरों को देशज राजाओं से, जो अंग्रेजी नहीं जानते थे बातचीत करनी थी और संबंध बनाना था इसलिए उसके लिए आवश्यक हो गया कि वे फारसी की कामचलाऊ जानकारी रखें। ऐसी स्थिति में, लुत्फुल्ला को अपनी भूमिका का अवसर मिला। वह एक मुंशी अथवा भाषा शिक्षक और लिपिक (क्लर्क) के रूप में नवागंतुक अंग्रेज अफसरों के निकट आया। उसने लगभग 300 अंग्रेज अफसरों को पढ़ाया और वह स्वयं सगर्व कहते हैं : 'मेरा पढ़ाया हुआ कोई भी अधिकारी सरकारी परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण नहीं हुआ।' वे सभी लुत्फुल्ला के प्रति उचित आदर की भावना रखते थे। ऐसे ही एक अंग्रेज अफसर शिष्य मेजर हार्ट के बारे में लुत्फुल्ला लिखते हैं कि 'मेरे प्रति उसका व्यवहार भाई जैसा था, उसने अपने नौकरों को आदेश दिया कि वे मुझे उस के बराबर समझें, उसने मेरे लिए अलग तंबू की व्यवस्था की और अपने घोड़ों में से एक को मेरे चढ़ने एवं घूमने के लिए निश्चित कर दिया था... ऐसी सद्भावना के कारण हमारे बीच घनिष्ठता में प्रतिदिन वृद्धि होती रही।'

लुत्फुल्ला ने समकालीन उन अनेक भारतीय मुंशियों की दुर्दशा और पीड़ा को सहानुभूतिपूर्वक चित्रित करने की कोशिश की है जिन्हें सिंध के पोलिटिकल एजेंट, रास बेल जैसे घमंडी, दंभी, झक्की और झूठे आत्मसम्मान वाले अंग्रेज अफसरों के साथ काम करना होता था। लुत्फुल्ला रास बेल के बारे में लिखता है। 'उसकी उच्च स्थिति घमंड, प्रदर्शन और दंभ से कलंकित थी। सोफा पर लेटे लेटे वह अपने सहमे सकुचे मुंशी को आलेख देता। उसके मुंशी कुर्सी अथवा जमीन पर भी बैठने का साहस नहीं कर सकते थे। उसके मुंशी को उसके आलेख को शब्दशः ज्यों का त्यों नोट करना होता था चाहे वह सार्थक हो या निरर्थक। नोट लेते समय उसे खड़ा रहना पड़ता और एक स्याही की दवात उसकी कमरपट्टी से लटकती रहती थी। भला ऐसी अपमानजनक स्थिति कौन झेल सकेगा। एक अंग्रेज पोलिटिकल एजेंट की तनख्वाह दिये जाने पर

भी मैं ऐसी स्थिति नहीं स्वीकार करूंगा लेकिन कुछ लोग ऐसी अपमानजनक दासता में भी प्रसन्न प्रतीत होते थे।' एक दिन लुत्फुल्ला ने मिस्टर रास को फारसी में कुछ गलत लिखवाते हुए सुना। लुत्फुल्ला ने विनम्रता से उसे टोका और सही किया। जिस पर उसने मुझे जलती नज़रों से देखा जैसे वह मुझे कच्चा ही खा जाना चाहता हो। लेकिन उसके क्रोध की उपेक्षा करते हुए मैं पीछे मुड़ा और अपने डेस्क पर वापस लौट गया।

लुत्फुल्ला प्रथम भारतीय है जिसने अपना जीवन-वृत्त (आटोबायग्राफी) अंग्रेज़ी में लिखा। 1857 में वह पुस्तक लंदन से प्रकाशित हुई 'इस पर एक आलोचक प्रतिक्रिया थी कि यह 'एक अमूल्य निधि और साहित्य में दुर्लभ वस्तु' थी। कुछ भारतीय समाचार पत्रों जैसे 'लीडर' ने भी इस पुस्तक के प्रति विशेष उत्साह दिखाया इसी पुस्तक के माध्यम से हम एक ऐसे उदार, सुसंस्कृत एवं सज्जन लुत्फुल्ला से मिलते हैं जो दूसरों के दोषों या खामियों को माफ कर देता है और विचारों से स्वयं काफी आगे दिखायी देता है। मुसलमानों में खतना की प्रथा के संबंध में वह लिखता है 'मेरे सहधर्मियों में इतनी सामान्य समझ होनी चाहिए कि एडम के पुत्र को उसके शरीर के किसी हिस्से से अलग नहीं करना चाहिए...इसे न समझते हुए मुसलमान एक संस्कार करते हैं जो हमारी धर्म-पुस्तक द्वारा उनके लिए अनिवार्य नहीं है। अधिकांश मुसलमान कुरान की सख्त हिदायतों को भी भुला देते हैं-जैसे मद्यपान का निषेध और ब्याज पर रुपया देने या लेने की मनाही। मुझे यह देखकर अफसोस होता है कि इन और दूसरे धार्मिक अनुदेशों का पालन मुसलमानों में ढीले-ढाले तौर पर ही होता है।'

लुत्फुल्ला और उसके सहधर्मियों के लिए हिंदू धर्म मूर्ति पूजा और झूठे देवी-देवताओं से भरा पड़ा था लेकिन वह हिंदू तौर-तरीकों, प्रथाओं-परंपराओं की चर्चा बड़ी समझदारी के साथ करता है। एक दयालु हिंदू ब्राह्मण ने उसे लड़कपन में डूबने से बचाया था। इससे उसे विश्वास हुआ कि काफिर होने के बावजूद 'हिंदू भी सर्व शक्तिमान ईश्वर के बनाये गये प्राणी थे।' 'सभी धर्म अपने मूल स्वरूप में विशुद्ध थे लेकिन कालांतर में उनमें अंधविश्वास बढ़ते गए... जैसा कि हिंदुओं की धर्म-पुस्तक वेदों में वर्णित धर्म से स्पष्ट है जो हमारे हिजरी सम्वत् से लगभग 1800 वर्ष पूर्व पहले तथा ईसा मसीह से 1100 वर्ष पूर्व था।' 'ईसाई यूरोपियनों के बारे में उसके विचार, प्रारंभ में सुनी-सुनायी बातों पर आधारित थे क्योंकि वह स्वयं लिखता है 'इन अद्भुत लोगों के बारे में विचित्र बातें कही जाती हैं। कहा जाता है कि उनके त्वचा (या

चमड़ी) नहीं होती और उनकी जगह उनका शरीर एक पतली झिल्ली से आवृत्त रहता है... वे हमारे पैगम्बर में विश्वास नहीं करते और अपने को इसाई मानते हैं लेकिन वे पवित्र एंजिल का, जो न्यू टेस्टामेंट का भाग है और जिसमें धार्मिक नियम या कानून हैं पालन नहीं करते। उन्होंने अपनी धर्म-पुस्तक में अपने सांसारिक उद्देश्यों या हितों की पूर्ति के लिए कई स्थानों पर परिवर्तन भी कर डाला था। उनमें अधिकांश अभी भी मूर्ति-पूजा करते हैं और सब कुछ खाते हैं, विशेष रूप से पवित्र एंजिल द्वारा निषिद्ध वस्तुएं, और वे ऐसा करते हैं बावजूद इसके कि पवित्र एंजिल के नियम उन्हें मना करते हैं मोनसेंट मैथ्यू 18 और 18) उन्होंने अपने लिए एक सर्व शक्तिमान एवं सर्वव्यापी भगवान के स्थान में तीन भगवान या देवता बनाया जो कि स्पष्टतः उनके प्रथम धार्मिक आदेश (कमांडमेन्ट) के विपरीत था और सबसे अधिक हास्यास्पद था कि वे ऐसे सर्वशक्तिमान् ईश्वर का संबंध उसकी पत्नी और बच्चों से जोड़ते हैं और उसी भूल में आगे बढ़ते हुए वे अपने पैगंबर को और स्वयं अपनों को क्रमशः बेटा और बच्चे कहते हैं: 'यहां पर उनके विचारों को कुछ हद तक खासतौर पर मुस्लिम कहा जा सकता है फिर भी वह अधीर है कि किसी दिन वास्तव में उसे इन असामान्य लोगों से मिलने का अवसर मिले और उनसे उनकी धार्मिक विसंगतियों पर प्रश्न पूछा जाए।

1844 में लुत्फुल्ला एक अपदस्थ नवाब जाफिर अली खान के सचिव और दुभाषिया नियुक्त हुआ। कंपनी के अंग्रेज बहादुरों से अपने मालिक की अपील या पैरवी करने वह लंदन गया। मीर जाफिर और बहुत से दूसरे साथी भी उसके साथ थे। बड़े सबेरे मेरे मित्र मिस्टर रेनेल ने मुझे गहरी नींद से झिंझोड़ कर जगाते हुए कहा कि हमारे जहाज के निकट कुछ देखने योग्य लड़कियां हैं। यद्यपि मुझ भारतीय के लिए वहां कड़ाके की ठंड थी और इतने सवेरे बिस्तर छोड़ना कष्टकर था लेकिन दर्शन-लाभ के मोह में लुत्फुल्ला शाल लपेटता हुआ उठ खड़ा हुआ... हमारे जहाज के निकट आ जा रही अनेक छोटी नावों में सुंदर अंग्रेज लड़कियां और युवतियां बैठी थीं। उनकी सुंदरता मेरी आंखों में कौंध जाती थी। —यह सुंदर दृश्य स्वर्ग-लोक की सैर करने जैसा था जिसका आनंद हम लोग स्ट्रीमर से अगले तीन दिनों तक लेते रहे क्योंकि तब तक किनारे पर नहीं उतरने दिया गया। लुत्फुल्ला स्वयं अधीर होते हुए स्वीकार करता है 'इतनी लंबी समुद्री यात्रा के बाद, अछूत होकर अलग रखा जाना और अपने चारों ओर अच्छी और जिज्ञासा जगाने वाली चीजों को देख कर उन तक पहुंच पाना एक ऐसी स्थिति

उत्पन्न करता है जिसे कोई भी अधिकतम अनिच्छा से ही स्वीकार करेगा।'

लुत्फुल्ला और उसके साथी यूनियन होटल में ठहरे। इंग्लैंड में उनका अंग्रेजों का पहला अनुभव कितना विचित्र था? स्वयं लुत्फुल्ला लिखता है : ऐसा लगता है कि हम लोगों को वहां के लोग संसार के सात आश्चर्यों में से एक समझते थे। इत्तेफाक से काहिरा में मैंने अपने लिए एक पोशाक खरीद ली थी, और इस तरह मैं उनके द्वारा घूरे जाने से सुरक्षित हो गया था। चूंकि जाफर को छोड़कर मेरे सभी साथी बाज़ार जाने के लिए उत्सुक थे, अतः नाश्ते के बाद वे सभी अपने साधारण भारतीय पोशाक में बाहर निकल पड़े। बाज़ार में उन्हें न केवल जिज्ञासा के साथ घूरा गया एक भीड़ ने उनका पीछा भी किया। इस कारण परेशान होकर वे बिना कुछ खरीदे वापस लौट पड़े। इस पर भी भीड़ पीछे लगी रही। होटल में घुसने से पहले मेरे साथी ने ज्यों ही पीछे मुड़कर अपने अनचाहे दर्शकों को देखा हुर्रा का एक शोर चारों ओर गूंज उठा। हमारे साथी डॉक्टर बदरुद्दीन ने बड़े गुस्से में कहा 'आवश्यकता से अधिक जिज्ञासा या उत्सुक श्वेतांग संतानों! उनमें जाति और आयु, किसी के लिए सम्मान की भावना न थी; मेरी बड़ी इच्छा हो रही है कि मैं उन पर पत्थर बरसाऊं' लंदन में वे 'मिवार्ट' के होटल में ठहरे जो ब्रुक स्ट्रीट में स्थित था लेकिन बाद में वे उसे छोड़कर स्लोअने स्ट्रीट चले गए। उनकी पार्टी में लुत्फुल्ला को छोड़कर कोई भी 'अंग्रेजी' नहीं जानता था। इसलिए लुत्फुल्ला को उन सबके लिए दुभाषिये का महत्वपूर्ण काम करना होता था-उनके और अंग्रेजों के बीच खरीद-फरोख्त, बातचीत और आदान-प्रदान का मैं आवश्यक माध्यम बनता।'

लुत्फुल्ला ने महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध संग्रहालयों और सार्वजनिक स्थानों को देखा, तथा हर जगह लोहे के अत्याधिक प्रयोग से लोहे के पुलों, लोहे के फिलिंग्स और लोहे को जालियों से, वह बड़ा प्रभावित हुआ क्योंकि भारत में ऐसा नहीं था। उसने आश्चर्य व्यक्त करते हुए लिखा 'यहां कुछ घरों या भवनों की छते भी लोहे से बनी हैं और कुछ बागीचे लोहे की सलाखों से घेरे गए हैं।' उसने सीमेंट की चिकनी, साफ-सुथरी और चौड़ी सड़कों को पसंद किया और यह भी देखा कि 'लगभग प्रत्येक स्त्री देखने में सुंदर थी और हरेक पुरुष स्वस्थ एवं परिश्रमी था। यद्यपि उसने सेन्टपॉल के गिरजाघर की भव्यता को सराहा लेकिन उसमें रखी बहुसंख्या छोटी-बड़ी मूर्तियों की उपस्थिति को न पसंद किया और लिखा; यद्यपि मैं जानता हूं कि प्रोटेस्टेंट नियमों के कारण वे पूजा नहीं जाती हैं; लेकिन

एक मंदिर, जो पवित्र उद्देश्यों के लिए होता है, चाहे छोटा हो या बड़ा, निश्चय ही साधारण सा या सादा दिखने वाला होना चाहिए ताकि आराधकों का ध्यान उपदेश-पाठ और पूजा से हट कर अन्यत्र न जा सके।'

इंग्लैंड में लुत्फुल्ला कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों से भी मिला जैसे अल्फ्रेड लाथम और आर.पल्सफोर्ड जिन में प्रथम एक बड़ा व्यापारी और दूसरा एक पार्लियामेंट सदस्य था। उसके पुराने अंग्रेज मित्रों ने, भारत में जो उससे घनिष्ठ हो चुके थे, जैसे कैप्टन पोस्टन और ईश्टविक ने, उसकी आवभगत की और मिस्टर एवं मिसेज लाथम उसे एक इतालवी आपेरा (गीत-नाटक) दिखाने ले गये। 'महारानी और राजपरिवार के लोगों के लिए बैठने की निश्चित कुर्सियां या सीटें स्टेज के दाहिने ओर थीं। हमारी सीटें स्टेज के ठीक विपरीत दिशा में थीं... साढ़े आठ बजे पर्दा उठा और स्टेज पर दो बहुत सुंदर महिलायें और एक बूढ़ा उपस्थित हुए। महिलायें आंखों में खटकने वाली अभद्र पोशाक में थीं और बूढ़ा आयु में उनके पिता-जैसा प्रतीत हो रहा था। जहां तक मैं समझना हूं उन्होंने वाद्ययंत्रों के साथ कोई प्रसिद्ध गीत गाया और कुशलतापूर्वक नृत्य किया। जब नाचती हुई युवतियां चक्कर लगाती घूमती तो उनके स्कर्ट निषिद्ध उंचाइयों तक उठ जाते थे।'

लुत्फुल्ला को उच्च सामंतों का निमंत्रण मिला। वह 'सामंतों और ड्यूकों के भवनों की उत्कृष्ट निर्माण शैली और बड़े-बड़े पोर्टिको' से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। ऐसे ही एक आमंत्रण से संबंधित एक घटना विशेष का उल्लेख करते हुए लुत्फुल्ला कहता है; 'एक घर में मैंने दो भद्र व्यक्तियों को देखा जिनके सिर के बालों में राख या धूल पड़ी हुई थी। मैंने अनुमान लगाया कि घर में कोई दुःखद मृत्यु उनके बालों की धूल का कारण होगी और जब मिस्टर स्काट से, जो मेरे निकट बैठे थे, ऐसी संभावना व्यक्त की तो वह युवक मेरी दाढ़ी देख हंस पड़ा और कहा कि बालों में पाउडर करना अभी प्रचलित एक पुराना फैशन था।' एक अन्य पार्टी में, जो लार्ड एशली के घर हुई, लुत्फुल्ला का परिचय जोसेलीन नामक एक सामंत और उसकी पत्नी से, हुआ। वह अंग्रेज सुंदरियों में 'सुंदरतम' थी। उसने स्वर्ग की उस अनिध सुंदरी के साथ शतरंज खेला और दोनों बाजी उसे खुश करने के लिए जानबूझ कर हार गया।

यद्यपि लुत्फुल्ला को लंदन में अंग्रेज महिलाओं का साथ मिला लेकिन इससे उसके स्त्री-स्वातंत्र्य संबंधित विचारों में जरा भी परिवर्तन नहीं आया क्योंकि वह लिखता है: स्त्रियों के पुरुष समाज से अलगाव को अंग्रेज एक दोषपूर्ण व्यवस्था मानते हैं जब कि हम लोग उसे एक अनुकरणीय

गुण। अंग्रेज़ अपनी स्त्रियों को अनियंत्रित और स्वतंत्र रखते हैं और उन्हें सार्वजनिक और व्यक्तिगत, दोनों स्तरों पर पुरुष संसर्ग की छूट देते हैं। अबला जीव! स्वभावतः कमज़ोर होने के कारण उनमें से कितनी ही पुरुषों के षडयंत्रों का शिकार बनती है! कितने प्रसिद्ध नामवाले उच्च परिवार बर्बाद हो गये, इसी औचित्य-रहित निर्बंधता या स्वच्छंदता के कारण! केवल लंदन में 80,000 महिलायें काली लिस्ट में दर्ज थीं। यदि किसी शाम को, आप विश्वप्रसिद्ध नगर, लंदन के रीजेंट स्ट्रीट में घूमने निकलें तो आपको बहुत-सी ऐसी अति सुंदर, गुण-संपन्न और भद्र महिलायें दिखेंगी जिन्हें उनके संबंधियों और मित्रों ने त्याग दिया है और जो काला-धंधा करने के लिए विवश हैं। इन सबके लिए कौन जिम्मेदार या उत्तरदायी है? मैं कहता हूँ कि कोई भी नहीं, बल्कि वह अनियंत्रित स्वतंत्रता जिसे आज के सभ्य लोगों ने उत्पन्न किया है।

लुत्फुल्ला और उसके साथ लीडेनहाल स्ट्रीट स्थित ईस्ट इंडिया कंपनी के हेड ऑफिस भी गये। वहां उसके चेयरमैन कैप्टन जान शेपर्ड और डिप्टी सर हेनरी शिल्लाक से उन्होंने भेंट की। लुत्फुल्ला के अनुसार : 'यह वह जगह है जहां मेरे प्यारे देश का भाग्य कंपनी के डायरेक्टर कहलाने वाले ऐसे 24 व्यक्तियों के हाथों निर्धारित होता है जो भारत में सरकारी-तंत्र की बागडोर नियंत्रित करने में सर्वप्रमुख है।' शेपर्ड और विल्लाक बड़ी विनम्रता से उससे मिले लेकिन उन्होंने स्पष्ट किया कि उनका इंग्लैंड आना, एक बेवकूफी थी क्योंकि वही काम वे भारत से पत्र-व्यवहार के माध्यम से कर सकते थे। लुत्फुल्ला नाराज़ होते हुए लिखता है : 'वे बिल्कुल ही नहीं जानते या समझते थे कि कैसे भारत में उनके गवर्नर-जनरल लार्ड एलेनबरो की निरंकुश कलम के एक वार ने मेरे मालिक को अधिकारों से वंचित कर दिया था और उसे न्याय प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड आने को विवश किया था।'

लुत्फुल्ला में बहुमुखी रुचि थी और उसने इंग्लैंड-यात्रा का अधिकतम फायदा उठाया, बहुत कुछ सीखकर और जानकर, यहां के विद्वानों और वैज्ञानिकों से मिलकर और बातचीत कर के। वह 'हिंदुस्तानी डिक्शनरी' (शब्दकोष) के लेखक जान शेक्सपियर, प्रत्येक विद् प्रोफेसर विलसन और कर्नल डब्ल्यू.एच. साइक्स से मिले। 'यह जानकर कि प्रथम नामधारी सज्जन ने हमारी भाषा में एक पुस्तक लिखी थी, मैंने उनकी प्रशंसा में एक लंबा वाक्य अपनी ही

भाषा में कह डाला लेकिन अफसोस! मैंने देखा कि वह मुझे न समझ सके और न ही उस भाषा में कुछ बोल सके जिसमें उन्होंने कई पुस्तकें लिखी थीं। निस्संदेह दूसरे सज्जन, प्रोफेसर साहब एक विद्वान व्यक्ति थे। तीसरे सज्जन, जैसा हमें बताया गया, डायरेक्टरों में से एक थे और 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के भी सदस्य थे, और उन्हें भारत में लंबे प्रवास से वहां के तौर-तरीकों, भाषाओं और भावनाओं की अच्छी जानकारी थी।

लुत्फुल्ला का पुश्तैनी पेशा चिकित्सक का था और इस प्रकार औषधि-विज्ञान और रसायन शास्त्र से उनका लगाव था। उसने रायल इंस्टीट्यूट में प्रोफेसर फ़ैरेडे का भाषण सुना और स्वयं स्वीकार किया कि 'जो महत्वपूर्ण जानकारी उन्हें उस अकेले एक भाषण से मिली है वह सालभर अपनी पुस्तकों के साथ कठिन परिश्रम करने पर भी न मिलती।' सेंट जार्ज अस्पताल में उसने ऑपरेशन होते हुए देखा। 'मुझे विश्वास हो गया कि गैलेन द्वारा लिखित आनातोमी की जो पुस्तक पढ़ रखी थी उस का अधिकांश कल्पित था।' उसने 'सर्जरी कॉलेज' भी देखा। वह रीजेंट स्ट्रीट पॉलीटेक्नीक देखने गया और बिना डरे वहां के गोताखोरी प्रशिक्षण वाले कुएं में उतर पड़ा। इसके अतिरिक्त उसने कला, साहित्य, व्यापार और व्यवसाय से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण केंद्रों अथवा संगठनों के बारे में भी ढेर-सारी जानकारी प्राप्त की। ऐसी लाभप्रद थीं लुत्फुल्ला की इंग्लैंड यात्रा; और इस के साथ ही उसमें हमें एक ऐसा भारतीय पाकर हर्ष होता है जिसने पश्चिम पहुंच कर पश्चिम को देखने, समझने और अपने अनुभवों और विचारों को लिखने की कोशिश की थी। भारत के लोगों के बारे में यह धारणा थी कि वह अंतर्मुखी होते हैं और उन्हें बाहर की दुनिया में विशेष रुचि नहीं होती। अधिकांशतः यह बात सच थी लेकिन लुत्फुल्ला जैसे अपवाद इस बात की पुष्टि करते हैं कि भले ही प्रमाण उपलब्ध न हों भारत के लोगों में भी भौतिक जागरण में, इस धरती के सौंदर्य में रुचि रही है। लुत्फुल्ला इस बात का प्रमाण है कि भारत के पढ़े-लिखे लोगों में अंग्रेजों का और उनकी सभ्यता और शक्ति का आतंक था लेकिन स्वाभिमान खत्म नहीं हुआ था।

-हिस्ट्री टुडे (जुलाई 1968) में प्रकाशित रेजीनाल्ड और जमीला मैस्सी के लेख के आधार पर

प्रस्तुति - एम.पी. गौड़  
इतिहास से साभार

**isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए